श्रीहरि :

*

पत्र-संग्रह

(पूज्यपाद स्वामी श्री अखण्डानन्द
सरस्वती जी महाराज के पत्र)

प्रकाशकः—
प्रेमानन्द 'दादा'
श्रीकृष्ण आश्रम,
दावानल कुण्ड, वृन्दावन.

प्रकाशकः–

प्रेमानन्द 'दादा'

श्रीकृष्ण आश्रम,

दावानल कुण्ड, वृन्दावन,

(i) मन में काम-क्रोधादि दोषों का न उठना।

(ii) विहित भोग-विलास में भी अरूचि होना।

(iii) विहित कर्म से भी उपराम होना।

(iv) बिना चिन्ता-विलाप के दुःखों को सहना।

(v) अपनी बुद्धिका अभिमान छोड़कर वेदान्त और सद्गुरु श्रद्धा करना।

(vi) मनोराज्य की निवृत्ति।

इतना वैराग्य होने पर भी यदि किसी भी लौकिक-अलौ दृश्य-वस्तु, क्रिया, भाव अथवा स्थितिमें आसक्ति शेष रह जात तो मोक्ष मार्ग पर चलना नहीं हो सकता। इस के लिए ऐन्द्रियटक, मानस एवं आत्विक बन्धनों से मोक्ष प्राप्त करने की आकांक्षा अपेक्षित होती है। चरित्रशुद्धि आदि तीन परम्परा स हैं। विवेक आदि चार बहिरङ्ग साधन हैं। यह अन्तःकरण को बनाते हैं। इस के बाद अन्तरङ्ग साधनों की प्राप्ति होती श्रवणादि तीन अन्तरङ्ग हैं। मनन संशय का निवर्त्तक और निदिध्य विपर्यय का। श्रवण साक्षात् वृत्ति का जनक है। अवान्तर वाक्यों श्रवण से पदार्थ ज्ञान होता है। महावाक्य के श्रवण से दो पदार्थद्वय 'त्वम्' और 'तत्' के ऐक्य का साक्षात्कार हो जाता

जिज्ञासुओं के पुण्य-परिपाक जनित सद्भाग्य से जब तक तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त महापुरुष का शरीर विद्यमान रहता है सहज भाव से उस के शरीर की उपस्थिति से जगत् का कल्याण होता रहता है। उस के दर्शन, आलाप आदि संसार के दुःखी प्राणियों के लिये, परमार्थ पथ के पथिकों के लिये परम सम्बल हैं।

मेरे परम प्रेमास्पद आत्मा ! मेरे पास तुमसे कहने के लिये कोई भी ऐसी बात नहीं है जो मैं अपनी ओर से कहूँ। तुम्हें कभी कोई बात पूछनी हो तो बिना संकोच के पूछ लेना। मैं तुम्हारा अपना आत्मा ही हूँ। क्या कोई अपने आत्मा से भी संकोच करता है ? तुम्हें मेरे बहुत-से पत्र मिले हैं। इसका श्रेय मेरे परम प्रेमास्पद श्री पूर्णानन्दजी कागज़ी को है। उन्हें यह पत्र पसन्द आये और उन्होंने आप तक पहुँचाये। यद्यपि वेदान्त में अपने आपको भी धन्यवाद देने की प्रथा है 'धन्योऽहम्' 'धन्योऽहम्' तथापि मुझे इस शिष्टाचार की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

—आपका परम प्रेमास्पद आत्मा
स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

पत्थर न दीखे, शिव दीखे। क्योंकि वह शिव ही
ही देखे। मस्त रहे। मन का सुधार ही साधन है। क्रिया शुद्धि के
मनःशुद्धि नहीं, मनःशुद्धि के लिये क्रिया शुद्धि है। मनःशुद्धि साध्य
क्रिया साधन। कुछ भी करो, अच्छी नीयत से। ईमानदारी के
सावधान। बहानेबाज़ी का प्रवेश न होने पावे। तुम सत्य, पवित्र
का अनुसन्धान करो। कहीं अपने राग को ही सत्य दर्शन मत समझ बै
तुम स्वयं सत्य, पवित्र एवं सुख हो जाओगे। वास्तव में तुम वही
क्या तुम्हें पवित्र होने की उत्सुकता है? जो क्रिया, वस्तु, भाव,
तुम्हें अपवित्र जान पड़ें उनका परित्याग करो। त्याग करते करते प
पवित्र रूप में केवल तुम्हीं बच रहोगे।

तुम्हारा—

अखण्डानन्द सरस्व

(३)

श्री वृन्दावन

१६—३—४४

तुम्हारा पत्र मिला। मुझे सचमुच प्रसन्नता हुई। जीव के विशाल जीवन में यह शरीर और इससे सम्बन्ध रखनेवाली वस्तुएं उतना भी महत्त्व नहीं रखतीं, जितना कि हम क्षण भर के मनोराज्य या स्वप्न में विभिन्न दृश्यों का महत्त्व अनुभव कर आते हैं। जीवन की स्थूल घटनाएं फुहियों के समान बिखर रही हैं, मानसिक जीवन लहरों के समान चंचल है, तब भी तुम समुद्र के अतल गर्भ में स्थित स्थिरता के समान स्थिर, धीर, गम्भीर, अक्षुब्ध हो। तुम फुहियों के साथ उड़ो मत, लहरों से टकराओ मत, सबके भीतर, सबसे अलग, सबके साक्षी, सबसे आंखें बंद करके आत्मसत्तामें, अनन्त शान्ति में स्थित हो जाओ। संसार की सत्यता असत्यता का निर्णय विचारकों का कर्तव्य है, ध्यान-निष्ठों का नहीं। इतना जानना काफी है कि यह एक उपेक्षा करने

योग्य वस्तु है । विचार भी एक विक्षेप ही है जो प्रारम्भ में उ......
और उपयोगी होने पर भी अन्त में सर्वथा त्याज्य है । जब तुम
शारीरिक, मानसिक जीवन की हलचलों से ऊपर उठकर देखो तब
तुम अनुभव करोगे कि जिसका मैं निर्माण करना चाहता था वह तो
पहले से ही है और उससे भी ठोस है, निर्विकार एकरस है । विश्वास
तुम्हारा किसी अज्ञात वस्तु पर नहीं, सत्य पर है–अनुभूति पर है ।
इसलिये यह केवल विश्वास ही नहीं बोध भी है । कदाचित् विश्वास
नहीं भी रहे–तुम्हारी स्थिति ज्यों-की-त्यों रहेगी । आत्मसत्ता एकरस
है । तुम जो देखते हो, जो सोचते हो, जो करते हो, जो भाव बनाते
हो तुम उसके भीतर हो । अनुभव करो–चंचलता और स्थिरताएं प्रकृति
के प्रवाह में हैं, तुम तटस्थ हो । मौज हो तो देखो, नहीं तो मत
देखो ।

था। हमारी पैदल यात्रा बड़ी सुखप्रद रही। २०-२० मील चलने पर भी चित्त उत्साहित रहा। सत्संग तो था ही। यह सुख-दुःख चित्त का ही खेल है। मालूम तो सब पड़ता है; क्या है क्या नहीं, कुछ कहा नहीं जा सकता। जो-जो मालूम पड़ता उसे शान्ति के साथ देखो। केवल अनुभूति एवं प्रतीति को ही उनके कर्ता को भी। एक प्रतीति से बँधो मत। प्रतीतियां बद रहती हैं —तुम एक हो न उन्हें चाहो न हटाओ। तटस्थ शान्त रहो, द्रष्टा रहो। तब तुम्हें भागने वाले विचित्र दृश्य प्रलोभित दुःखी न कर सकेंगे। शान्ति किसी अभ्यास से नहीं आती। स कृत्रिम-अकृत्रिम अभ्यासों की तह में जो तुम्हारी एकरस सहज स्थिति वह शान्त है। यदि तुम अपने सहज स्वरूप को देख सको, जो स संकल्प-विकल्प, वृत्तियों एवं प्रतीतियों के मूल में रहता है, तो सकोगे--शारीरिक एवं मानसिक चहल-पहल तथा उथल-पुथल अत स्थूल हैं, उन्होंने कभी तुम्हारा स्पर्श नहीं किया है—यद्यपि तुम इन्हें उनके कारण अपने को प्रभावित देखते रहे हो। देखो और केवल देखो। सटो मत, हटो मत, जानो मत, अनजान मत रहो। ये उन्हीं के लिये हैं जो स्थूल शरीर सम्बन्धी व्यक्तित्व के बंधन में जकड़े हुए हैं। तुम्हारी शुद्ध, सहज, शान्तिमय, निःसंकल्प स्वरूप की दृष्टि इनका कोई महत्व नहीं है। मूल को देखो—सब दीख जायगा। मन लौटने दो। गंभीरता एवं पवित्रता में उसे डूब जाने दो। परिश्रम म करो। देखो!

आपका—

अखण्डानन्द सरस्वती

(५)

वृन्दावनधाम.
१४-११-४४

वस्तुतः आध्यात्मिक क्षेत्र में चमत्कारों का कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। जन्म से हम बाह्य वस्तुओं को ही श्रेष्ठ मानते आये हैं

हलचल होती रही तो मेरे भाई! न तुम घर के रहोगे न घाट के कहीं भी निष्ठा नहीं होगी। जहां तुम टिकना चाहोगे उससे अच दूसरा जान पड़ेगा। फिर दूसरा। साकार का ध्यान करने बैठोगे निराक की महिमा सूझेगी। निराकार का करोगे, साकार की। मनुष्य का करोगे वानर की। यह चित्त की कमज़ोरी है जो पहले मालूम नहीं पड़ती पीछे कहीं भी ठिकाना नहीं मिलता। अपनी निष्ठा को मज़बूती पकड़ लो फिर सबसे मिलो जुलो।

एक पद है—

सबसे मिलिये सबसे जुलिये सबका लीजिये 'नांव'।
हां जी, हां जी, करते रहिये बैठिये अपने 'ठांव'।

जहां वज्र की सी दृढ़ता, समुद्र सी गम्भीरता और ग्राह की सी अपनी निष्ठा की पकड़ है वहां भगवान् प्रत्यक्ष है क्योंकि अचलता एकरसता ही भगवान् का स्वरूप है।

आपका—
अखण्डानन्द सरस्वती.

(६)

वृन्दावनधाम
दि. २२-११-४४

आपका पत्र मिला। बात यह है कि बाह्य दर्शन होता है और उसका महत्त्व भी कम नहीं है; परन्तु उसकी साधना है भजन में निष्ठा होना। दर्शन तो कुछ क्षणों की वस्तु है। निष्ठा सर्वदा के लिये दर्शन के पूर्व और पश्चात् भी आवश्यक है। वह भावना कितनी दृढ़ है जो अपने इष्टदेव को मूर्तिमान् करके दिखा देती है! भक्त इसे अपनी भावना नहीं, भगवान् की कृपा मानते हैं। प्रेम न हो, निष्ठा न हो,

अन्तर्मुखता न हो तो दर्शन भी अधिक महत्त्व का नहीं। रामायण और महाभारतकाल में हजारों ने दर्शन किये, शत्रु भी रहे, क्या उन्हें भगवदानन्द का अनुभव होता था ? दर्शन के पूर्व प्रीति न हो तो सुख नहीं। प्रीति है-उनके लिये सब कुछ न्यौछावर कर देना। निष्ठा है उसकी तैयारी। बिना देखे पूर्ण विश्वास बहादुर का काम है। शान्ति ही सबका लक्ष्य है-फल है। चित्तवृत्तियों को मोड़ो—उन्हें एक स्थान पर लौटाओ—दीपक की तरह उन्हें बुझ जाने दो—शान्त होने दो।

कुछ हद तक व्याकुलता आवश्यक है; परन्तु यह ताप तो केवल उन लोगों के लिये है जो इन्द्रियों के विषयों में रमते हैं-उनकी छटपटी की दिशा बदल जाती है। पश्चात्ताप-प्रायश्चित्त कराके वे अभीष्ट दिशा में अग्रसर किये जाते हैं। भयावने और लुभावने दृश्यों की चरितार्थता केवल उन्हीं लोगों के लिये है जो पापी हैं अथवा भोगों की कामना और लोभ से जकड़े हुए हैं। तुम्हारा मन इस कीचड़ से निकल चुका है और तुम एक सुनिश्चित एवं अनुभूत मार्ग से शान्ति का यत्किंचित् अनुभव कर रहे हो। 'तुम्हें तो शरीर से और इन्द्रियों से जो अनुभव होते हैं उनसे ऊपर उठना चाहिये। वह समय कितना भ होगा जब तुम्हारे चित्त में एक भी वासना, एक भी संकल्प न गा ! तुम्हारा आदर्श इस मिट्टी के टुकड़े के इर्दगिर्द घूमने वाला हीं है। यह शरीर तो एक दिन श्मशान में ही जायगा भले ही इसे भगवान् दर्शन दे जायं।

अतः अपने लक्ष्य—इष्ट आदर्श के सम्बन्ध में दृढ़ निश्चय और साधना में दृढ़ निष्ठा होनी चाहिये। एक महात्मा आ गये सो अब यहीं समाप्त।

आपका—

अखण्डानन्द सरस्वती

(७)

श्री वृन्दावनध
रविवार १७-१२-४

उस अनुभूति का कोई मूल्य नहीं है जो टिकती नहीं। "स
वै जाय सो माया।" अनुभूतियों की अनेकरसता में भी तुम एक
। तुम्हीं तुम्हारी अनुभूतियों की आधारशिला हो। जिस समय
ी अनुभूति के लिये व्याकुल होते हो, उस समय तुम इस स
भूल जाते हो। पूर्णता भावना में नहीं बोध में है। तुम इस बो
निष्ठावान् हो जाओ कि मैं और मेरे परमात्मा कभी अलग न
सकते। मुझे उन्होंने और मैंने उनको दृढ़ भुजपाश में बांध रख
इसमें भूल (विस्मृति) भले ही हो परन्तु सत्य सत्य ही है। यां
व्याकुलता होती है तो केवल इसी बोध को पूर्णतया अनुभव कर
लिये होनी चाहिये। अनुभूतियां आती और जाती हैं, तुम उनक
। क्यों देते हो?

तुम नामजप करो; परन्तु दृष्टि अपनी इष्ट वस्तु पर हो
सेवा करो परन्तु अंतःकरण श्रद्धा से अवनत हो। सबसे श्रेष्ठ
क वह है जिसके जीवन में केवल एक ही इच्छा है। दूसरे
का साधक वह है जो अपनी एक इच्छा के लिये सम्पूर्ण इच्छाओं
ालि देने को तैयार रहता है। वह तो विषयी है जिसके जीवन
क से अधिक इच्छाएं हैं। जीवन में जो कभी कभी विक्षेप,
के दर्शन हुआ करते हैं वे इन्हीं इच्छाओं की खींचातानी के
हैं। जब तुम अनावश्यक इच्छाओं से परहेज करने लगोगे, तब
जान सकोगे कि प्रतिशत निन्नानवे इच्छाएं अनावश्यक हैं। वही
जीवन है जिसमें इच्छाओं की तो बात ही क्या कोई आवश्यकता
हीं है। जब कि तुम्हें एक बहुमूल्य वस्तु प्राप्त है, वह तुम्हें
र कभी कहीं नहीं जाती, तब तुम क्षणिक अनुभवों के लिये
। निःसंकल्पता, शान्ति क्यों भंग करते हो? बोध दर्शन और

विस्मृति—दोनों से विलक्षण है। हमें हमारी मनुष्यता का बोध कितना दृढ़ है कि न तो इसे स्मरण रखना पड़ता है और न तो इसके विस्मरण से हमारा मनुष्यत्व खो ही जाता है। क्या हमारे हृदय में परमात्मा की उपस्थिति मनुष्यत्व से भी न्यून है ? वह वज्र से भी कठोर और आकाश से भी अचल है परमात्मा हमारे हृदय से कभी दूर नहीं हो सकता। देखो, मैं तुम्हें सार-सार बात बतलाता हूँ, यदि परमात्मा अभी, यहीं, और यही नहीं है तो वह कहीं भी नहीं है। ऐसी अवस्था में तो वह भी संसारी वस्तुओं जैसा ही परिच्छिन्न और नाशवान् होगा। आंख बन्द कर लो—बाहर की ही नहीं भीतर की भी। तुम जो हो, जहां हो, वही वहीं परमात्मा है।

तुम्हारा—

अखण्डानन्द सरस्वती

(८)

वह तुम्हें पहले ही स्वतः प्राप्त है। तुम जो उसे अप्राप्त मानकर पा
चाहते हो इसीसे प्राप्ति नहीं होती। समुद्र की ऊपरी सतह पर चा
जितनी तरंगें उठ रही हों—ज्वार-भाटा आ रहा हो, भीतर तो व
शान्त ही है। तुम जब बाह्य वस्तुओं को अपना स्वरूप समझकर बैठते ह
तभी विक्षेप और अशान्ति का अनुभव होता है। उन्हें देखकर मिटा
की चेष्टा मत करो। उनकी ओर से आँख बन्द कर लो। तुम्हारी
अपनी सत्ता महासमुद्र है।

नियम के सम्बन्ध में फिर लिखूंगा।

(९)

श्री वृन्दावनधाम
७-२-४५

अभिमान बुरी वस्तु नहीं है— उसका उपयोग बुरा या भला होता है। अभिमान से किसी का तिरस्कार करना, उसे नीचा समझना, पाप करना बुरा है। अभिमान से श्रेष्ठ कर्म में, ध्यान में, साधना में लगना अच्छा है। असल बात यह है कि बिना अपने साधकपने के अभिमान के साधना ठीक बनती नहीं। व्यवहार में देहाभिमान—अन्तःकरण का अभिमान स्वीकार किये बिना कोई काम कैसे करेंगे? यह मेरी देह है, मेरा मन है—यह 'मैं' मैं' करने वाला कौन है? मैं (अभिमान) ही तो। इसलिये मुझ में अभिमान नहीं है—यही सबसे बड़ा अभिमान है। अभिमान स्वीकार करके ही सिद्ध लोग भी अपना काम करते हैं। साधक तो निरभिमान हो ही नहीं सकता। मैं यह साधन, यह नियम कभी नहीं छोड़ूंगा—इस प्रकार का हठ तो अत्यन्त आवश्यक है। आज्ञापालन, प्रसन्नता या सेवा को दृष्टि में रखकर दृढ़ हो जाना चाहिये। जीवनभर के लिये—जन्म-जन्म के लिये एक ही मत।

(१) अस अभिमान जाइ जनि भोरे, मैं सेवक रघुपति पति मोरे।
(२) जनम जनम लगि रगर हमारी; बरउँ शम्भु न त रहउँ कुमारी॥

तुम्हारा
अखण्डानन्द सरस्वती

(१०)

श्रीवृन्दावनधाम

सब व्यक्तियां मनुष्य-पशु-पक्षी-वृक्ष-पाषाण आदि अपने अपने स्वभाव के अनुसार बरत रही हैं एवं राग-द्वेष-शयन-भोजन-भाषण आदि कर रही हैं। ईश्वर उनको सत्ता देकर मज़ा ले रहा है। तुम केवल देख रहे हो। न देखो तो समाधि दीखती है। देखो तो ईश्वर की लीला दीखती है। अपना आपा ईश्वर के आपे से अलग नहीं है। सब एक हैं। सब परमात्मा है। सब आत्मा है। यही सत्य है-सो तुम हो। सहज ही समाधि है। लगाओ मन। केवल देखो। जब चित्त की निःस्पन्दता में ही जगत् नहीं है तो तत्त्व की अनन्त निःस्पन्दता में जगत कहां से ?

आपका अपना-

अखण्डानन्द सरस्वती

(११)

श्रीवृन्दावनधाम

। सभी क्रियाएं, संकल्प, वस्तुएं असम्बद्ध ही हैं। प्रत्येक क्षण सृष्टि नई है। कल्पना करो कि स्मृति नहीं है—सारा संम्बन्ध नष्ट जायगा। सब सम्बन्धों का मूल स्मृति में है। स्मृति की सत अप्रामाणिक है। एक दृष्टि सारी सृष्टि है। स्वप्न के पिता–पुत्र सम्बन्ध तत्कालीन कल्पना के सिवा और क्या है? शेष मिलने प

आपका—

अखण्डानन्द सरस्व

(१२)

जबलपु

१९–३–

सत्य अपरिवर्तनशील होता है, उसे मानो चाहे न मानो, ज चाहे न जानो वह ज्यों–का–त्यों रहता है। जानने से अज्ञान जा दुःख की निवृत्ति हो जाती है। सत्य की उत्पत्ति नहीं होती। वह असत्य की भी उत्पत्ति नहीं होती। वह है ही नहीं। सब सत्य ही स है। कुछ उत्पन्न करना और कुछ नाश करना सत्य में सम्भव ही न है, इसलिये अनुभूति का उत्पन्न होना और उसका बिगड़ जानाभी स से कोई संबंध नहीं रखता। जब तुम स्वयं सत्य हो तब अनुभूति लिये इच्छा करना उसे अन्य बना देना है। ऐसी अवस्था में उसे असत्य कर देते हो; क्योंकि सत्य के अतिरिक्त जो कुछ वह असत्य है।

तुम्हारा अपना ही,

अखण्डानन्द सरस्व

(१३)

परमहंस आश्रम, वृन्दा

५–५–

(१) मैं सच्चिदानन्दघन अद्वैत अनन्त निर्विकार आत्मा हूँ। मुझ नामरूपात्मक द्वैतरूप विषयात्मक प्रपञ्च का अस्तित्व ही नहीं है।

ुद्ध अमन हूँ। इस प्रकार मन का अभाव निश्चय करके अपने स्वरूप ं स्थित होना।

(२) जाग्रत एवं स्वप्न अवस्था में मन विषयों का चिन्तन करता है सुषुप्तिमें नहीं करता। समाधि और मूर्च्छा में भी नहीं! मैं अवस्था नहीं हूँ, इनका साक्षी तुरीय हूँ। मन विकारी है, दृश्य है, जड़ है। मिथ्या विषय भावरूप है, उनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। मनकी शान्त, घोर, मूढ़, सुख, दुःख, आदि समस्त वृत्तियां दीख रही हैं। दीखने की स्थिति में मन पत्थर-सा निःसंकल्प हो जाता है।

(३) मैं स्वामी हूँ और मन मेरा सेवक। मैं जड़ शरीर नहीं चेतन आत्मा हूँ। मेरे अधीन मन का अस्तित्व है। मैं जब मूर्खता से अपने को शरीर मान बैठता हूँ तब वह मेरा संचालन करने लगता है। रे मन आ, जहां मैं कहूँ, वहां स्थिर निःसंकल्प हो जा। यहीं तो मैं तुझे छोड़ता हूँ। मैं यहां स्थिर हूं, तेरी मौज।

और मन है ही क्या ? यदि यह बात आपके ध्यान में आ गयी तत्क्षण आप मन से स्वतंत्रता का अनुभव करेंगे ।

तुम्हारा–

अखण्डानन्द सरस्वत

(१४)

श्रीवृन्दावनधा

दि. २२–५-४

वास्तव में भगवान् परिपूर्ण ही हैं। उन्हें कोई देश, काल, वस्तु गुण, रूप, आदि अप्राप्त नहीं हैं। न वे कुछ चाहते हैं, न बनते हैं वह सब कुछ पहिले से ही हैं। भक्त लोग जैसा चाहते हैं वैसे दीख जाते हैं। ऋणी और उऋण दोनों वही हैं। ऐसा होने पर भी साधारण भक्त उन्हें ऋणी बनाने की नहीं सोच सकते। अत्यन्त प्रेमी जो गोपियों की भूमिका में पहुंचे हुए हैं, वही उन्हें नीचा दिखाना चाहते हैं, और चूंकि नीचा देखे हुए भी वही हैं इसलिए दीख जाते हैं। सच पूछो तो भाई, भगवान् शुद्ध प्रेम है। दूसरे जो प्रेमी हैं उनमें तो उन्हीं के किंचित् प्रेमांश का विकास होता है, इसलिये उन जैसे तो वही हैं। अतः तुम्हारा अनुभव ठीक है।

मैं बार–बार तुम्हें कहता हूँ–तुम्हारा स्वरूप शान्ति है, आनन्द है। उसकी इच्छा करना या पाना तो तब उचित होता यदि शान्ति तुमसे पृथक् कोई वस्तु होती। तुम अधिकार की भिक्षा मत मांगो। तुम स्वयं शान्ति हो। जिस समय इच्छाएं होती हैं–उनके शान्त अन्तराल में बैठकर उन्हें कौन देखता रहता है ? जब वे लय हो जाती हैं तब उनके अभाव को कौन देखता है ? इच्छा और इच्छा के अभाव के साक्षी एवं प्रकाशक ! तुझे कौन विक्षिप्त या शान्त बना सकता है ? तुम्हारा स्वरूप अखण्ड है। इस संसार के बाह्य तथा आन्तर चंचलता तथा अचलता के मूल में 'मैं' और 'तुम' दोनों एक हैं। तुम और तुम्हारा ईश्वर दोनों ऐसे एक हैं जिन्हें वे स्वयं अलग करने में असमर्थ

हैं। तुम शान्त हो, आनन्द हो। जिस अनुभव को तुम चाहते हो वह स्वयं तुम हो। और इच्छाओं की तो बात ही क्या, तुम इस अनुभव की इच्छा को भी निकाल फेंको, फिर देखोगे कि सारे अनुभव तुम्हारी दृष्टि में बसते हैं।

आपका—
अखण्डानन्द सरस्वती

(१५)

परमहंस आश्रम,
श्रीवृन्दावनधाम,
२३-६-४५

निःसंकल्प हूँ। ये बाहर हों या न हों। वास्तव में शान्ति औ
निःसंकल्पता अभ्यास करके बुलाने की तो कोई आवश्यकता ही नहीं है
अभ्यास के लिए शरीर मन आदि रूप संसार की अपेक्षा होती है
मैं परम स्वतंत्र सबसे निरपेक्ष हूँ।'

'मन' माने आत्मा की-मैंकी-मेरी आँख। इसीसे
देखूँ तब कोई उसे दीखे—न देखूँ तो न दीखे। किसी वस्तु क
दीखना—मालूम पड़ना मन है। जिस समय कुछ मालूम नहीं पड़ता है
उस समय मन कहां है? 'कुछ मालूम नहीं पड़ता' ऐसा मालूम पड़न
भी मन ही है। यह काला, नीला, पीला, बड़ा, छोटा, ऐसा, वैसा
कैसा, बाहर, भीतर-सब मन ही है; क्योंकि सब मालूम पड़ता है।
मालूम पड़ना ही मन है। सो यह बिल्कुल झूठा है। मैं से अलग कभी
यह रह सकता नहीं, रहता नहीं—है नहीं। केवल परमात्मा—आत्मा है।
यदि यह होता, मिलता, दीखता, तो इसको क़ैद करते, मारते या प्यार
करते या उपेक्षा करते। यह तो है ही नहीं। द्वैत कहां?

तुम्हारा-

अखण्डानन्द सरस्वती

(१६)

श्री वृन्दावनधाम

१०-८-४५.

(१) किसी पदार्थ को परमात्मा से भिन्न समझना संसार है। समझ
का नाम संसार है – ईंट-पत्थर का नहीं।

(२) साधारण जन समझते हैं—देश, काल, वस्तु, शक्ति आदि से
समझ बनती है। व्यवहार की दृष्टि से यह सत्य भी है। परन्तु सर्वथा
सच्ची यह बात है कि समझ ही उनका निर्माण कर्ता है।

(३) अपने को भोक्ता दूसरे को भोग्य और दूसरे को भोक्ता अपने
भोग्य समझना संसार है। दरअसल एक परमात्मा ही है, उसमें भोक्ता-
भोग्य का भेद नहीं है। पुरुष भोक्ता है स्त्री भोग्य—यह भ्रम है। ...

भोक्ता है पुरुष भोग्य-यह भ्रम है। विषय शरीर को खाये जा रहे हैं अथवा शरीर विषयों को, इसका निर्णय जज बनकर करो।

(४) जैसे बेवकूफ आदमी दाद खुजलाने को ही सुख मानता है वैसे ही त्वचा को त्वचा से—जीभ को मिर्च मसाले से—इंद्रियों को विषयों से घिसने को ही सुख कहा जाता है। यह तो केवल आवेग की शान्ति है। सुख कहां है? जिसे लोग सुख कहते हैं वह तो इच्छा उदय होने के पूर्व भी था। फिर मिला क्या?

(५) भोग्य क्षण भंगुर है। इन्द्रियों में संतोषजनक शक्ति नहीं। भोक्ता भिन्न भिन्न कर्मों के अनुसार न्यूनाधिक भोग करने के लिये विवश हैं। ऐसी स्थिति में संसार में क्या सुख है?

(६) तुम जज होकर निर्णय करो, भोगी सुखी है या त्यागी? कहीं, दोनों के निर्णायक जज साहेब! आप साक्षी ही तो सुखी नहीं है?

आपका अपना ही—

अखण्डानन्द सरस्वती

(१७) श्रीवृन्दावनधाम.

कालिक
२३-९-

जन्म, मृत्यु और व्यक्तित्व केवल स्फुरणमात्र हैं। कारण-क
देश-काल और इनके सम्बन्ध की कल्पनाएं भी स्फुरणमात्र हैं
स्फुरणहीन दशामें कुछ भी ज्ञात और अज्ञात रूप से अनुभव न
होता। यह स्फुरणहीन दशा एक प्रकार से शुद्ध सत्ता का निश्चय क
के लिये नमूना मात्र है। समस्त भेद-यहां तक कि भेद से अ
विलक्षण है-यह भी-स्फुरणकाल में ही प्रतिभासित होता है।

स्फुरणहीन सत्ता अथवा विषयरहित ज्ञान एक ही वस्तु है
इसमें 'यह' और 'मैं' रूप ज्ञान दोनों ही जिज्ञासा दशा में कल्पि
किये गये हैं। वास्तव में चाहे 'वस्तु' एवं 'ज्ञान', 'यह' तथा 'मैं'
विभिन्न प्रकार के मालूम पड़ते रहें परन्तु न तो इस से वस्तु, सत
और ज्ञान आपस में अलग होते हैं और न ही उनमें कोई भीतर
भेद बनता है। एक अद्वितीय अखण्ड ज्ञान ही सत् है और सत ही
ज्ञान है। 'यह' कोई परोक्ष या अन्य नहीं है।

एक प्रश्नोत्तर

प्रश्न :—तुम समस्त भेद निरूपण को अनिर्वचनीय क्यों कहते हो

उत्तर :— इसलिये कि उनमें भेद नहीं है।

प्रश्न :—जब भेद नहीं है तब मेरे मत में दोष क्यों निकालते हो?

उत्तर :—इसलिये कि तुम उसमें गुण निकालते हो।

प्रश्न :—अच्छा, तुम्हारे निकाले हुए दोष अनिर्वचनीय हैं कि नहीं?

उत्तरः —अवश्य! वे भी अनिर्वचनीय हैं।

प्रश्न :—तब तुम स्वयं उनका निर्वचन क्यों करते हो?

उत्तर :—हमें निर्वचन करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

हम तो देश, काल एवं वस्तु-भेद की अवास्तविकता एवं
स्वमान्नता जानकर अपने अनन्त स्वरूप में स्थित हैं। हमें अपनी का

कहने की कोई ज़रूरत नहीं है। जब तुम अपने विचारकपने का अभिमान लेकर गुण दोष का विभाग करने लगते हो, तब तुम्हारे ही दृष्टिकोण से तुम्हारे गुण या दोष अनिर्वचनीय सिद्ध कर देता हूँ। तुम्हारा गुण-दोष का भेद स्वयं तुम्हारी प्रणाली से ही असंगत है। हमारे सिद्धान्त में कुछ भी परोक्ष, अज्ञात एवं अनिर्वचनीय नहीं है। अनिर्वचनीयता भी तुम्हारी प्रणाली से है-हमारी प्रणाली से नहीं। इधर तो निर्वचनीय और अनिर्वचनीय का भी भेद नहीं है।

अजन्मा की जन्मतिथि पर बधाई!

(१९)

बेलखेड़ा

बेलखेड़ा
१२–१०–४५

पंचदशी के इनश्लोकों का प्रसंग यह है— 'एक मात्र अद्वितीय सत्तत्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं है'–यह सिद्धान्त समझाने के लिये प्रकरण के प्रारम्भ में दृश्यमान सृष्टि को वर्तमान काल में मानकर यह सृष्टि पहले नहीं थी और पीछे भी नहीं रहेगी, इसलिये वर्तमान में दीखने पर भी नहीं है यह समझा रहे हैं।

श्रुति कहती है– 'सृष्टि के पूर्व एकमात्र सत्तत्व ही था।'

(१) प्रश्न– माना कि सत्तत्व एक ही था परन्तु उसके अवयव अनेक हों तो?

उत्तर– "सतो नावयवाः शंक्याः"– अर्थात् सत्तत्व के अवयव (हिस्से) हो ही नहीं सकते- (सत्तत्व बहुत सी संख्याओं का जोड़ नहीं है, वह बहुत से 'जुजों' का 'कुल' नहीं है। यदि ऐसा हो तो उसमें भाग देकर यह जाना जा सकेगा कि उसकी लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई कितनी है। तब सत्तत्व भी परिमित, परिच्छिन्न, दृश्य, जड़ और नाशवान् हो जायगा। सत्य के एक अवयव को दूसरे अवयव से अलग करने के लिये दोनों के बीच में एक तीसरी वस्तु चाहिये, और वह वस्तु सत् से भिन्न होनी चाहिये। सत् से भिन्न असत् ही होता है इसलिये असत् के कारण सत् के दो रूप या दो अवयव हो जायँ तो वे भी असत् ही होंगे। इसलिये सत्तत्व एकमात्र अद्वितीय है।)

प्रश्न– तुम तो युक्ति से समझाने लगे, प्रश्न है श्रुति का। श्रुति से समझाओ!

उत्तर– "तदंशस्यानिरूपणात्" श्रुतियों में कहीं भी सृष्टि के पूर्व सत्तत्व में अंश का, अवयव का निरूपण नहीं किया है।

इसके विपरीत श्रुतियां 'एक ही, अद्वितीय ही, सत् ही था'–ऐसा वर्णन करती हैं। (अंशवान् वस्तु सत्तत्व नहीं हो सकती, क्योंकि वह दृश्य और नाशवान् होती है।)

प्रश्न– यदि नाम और रूप को सत्तत्व का अंश मान लें तो?

उत्तर– "नाम रूपे न तस्यांशौ" नाम और रूप उसके अंश नहीं हो सकते।

प्रश्न– क्यों?

उत्तर– "तयोरप्याप्यनुद्भवात्" क्योंकि सृष्टि के पूर्व नाम रूप की तो उत्पत्ति ही नहीं हुई थी। कहने का आशय यह है कि बिना अनेकता के रूप का अनुभव नहीं हो सकता और बिना पृथक्ता के नाम नहीं हो सकता। सृष्टि के पूर्व अनेकता और पृथक्ता बिल्कुल नहीं थी।

प्रकार पशु, पक्षी, मनुष्यादि शरीर बनने के पूर्व स
आत्मा में यह भेद नहीं था कि यह पशु की आत्मा है,
मनुष्य की आत्मा है, यह मेरी आत्मा है, यह
आत्मा है। जैसे अनेक घटों और मकानों का आ
अलग-अलग नहीं है एक ही है वैसे ही सब शरीर
अलग-अलग व्यवहार किया जाने वाला 'मैं-मैं' एक
है। उसी को सत्तत्व कहते हैं। यदि घट, मकान, श
आदि को मिटाकर सृष्टि के पूर्व की कल्पना की
तो वह सत्तत्व मैं ही हूँ और ये भेद झूठे हैं—यह
अनुभव में आ जायगी ॥२३॥

भेद तीन प्रकार के होते हैं—जैसे एक पेड़ में डा
पत्ते, फूल, फल—इसको स्वगत भेद कहते हैं। २२
और २३ वें श्लोक में इसी भेद का खण्डन किया गया है

(२) दूसरा भेद है सजातीय भेद—जैसे एक वृक्ष का दूसरे वृ
से। अब विचार करना चाहिये कि सत्तत्व का सजात
भेद किसके साथ हो सकता है?

प्रश्न— एक सत् का दूसरे सत् से सजातीय भेद मानें तो क
हानि है?

उत्तर— 'सदन्तरं सजातीयं न' दूसरा सजातीय सत् नहीं है।

प्रश्न— क्यों?

उत्तर— 'वैलक्षण्यवर्जनात्' एक सत् से दूसरे सत् में को
विलक्षणता न होने के कारण। लक्षण एक होने पर लक्ष
भी एक ही होता है। एक सत्तत्व से दूसरे सत्तत्व के
लक्षण में कोई अन्तर नहीं है। सत् का इतना ही लक्षण
है 'है'। अब दूसरा 'है' किसी अन्य देशमें, अन्य काल
में अथवा अन्य रूप में हो सकता है। परन्तु सृष्टि के

पूर्व देश, काल, रूप की कल्पना ही नहीं है। सच पूछो तो 'सृष्टि के पूर्व' की कल्पना भी सृष्टि की दृष्टि से करते हैं। अन्यथा सृष्टि के पहले, 'पहले और पीछे' का कोई भेद नहीं था।

प्रश्न– इसका सारांश क्या है?

उत्तर– देखो जी, 'नामरूपोपाधिभेदं विना नैव सतो भिदा'। नाम और रूप की उपाधि का भेद हुए बिना अर्थात् सृष्टि हुए बिना सत्तत्व में भेद की गंध भी नहीं हो सकती, इसलिये सत्तत्व में सजातीय भेद नहीं है। ॥२४॥

(३) तीसरा भेद है—विजातीय भेद। जैसे पेड़ का पत्थर से, मनुष्य का पशु से। विचार यह करना चाहिये कि सृष्टि के पूर्व सत्तत्व का विजातीय कुछ था या नहीं?

प्रश्न– सत्तत्व का विजातीय क्या है?

उत्तर– विजातीयमसत्' सत्तत्व का विजातीय तो असत् है।

प्रश्न– सृष्टि के पहले यदि वह हो तो क्या हानि है?

उत्तर– क्या खूब! असत् भी हो और हो भी!
'तत्तु न खल्वस्तीति गम्यते'। अरे भाई, जो न हो उसी को तो असत् कहते हैं।

प्रश्न– इसका नतीजा?

उत्तर– 'नास्यातः प्रतियोगित्वं विजातीयाद्भिदा कुतः। इसलिये असत् तो सत् के सामने खड़ा भी नहीं हो सकता। फिर वह भेदभाव कैसे उत्पन्न कर सकता है? भाव यह कि सत्तत्व में विजातीय भेद भी नहीं है। ॥२५॥

अब छब्बीसवें श्लोक के भाव बताने की आवश्यकता नहीं मालूम पड़ती। सृष्टि के पूर्व सत् ही था और बाद में भी सत् ही रहेगा। तब यह बीच में सृष्टि का

क्या बखेड़ा उठ खड़ा हुआ है? यह सत् नहीं है आगन्तुक है—प्रतीति है अर्थात् केवल मालूम पड़ता है।

आपका—

अखण्डानन्द सरस्वती

(२१)

वृन्दावन

२९-१२-४५

घटनाएँ प्रकृति के गुणों के अनुसार घट रही हैं। जन्म, मृत्यु, रोग आदि। ईश्वर प्रेरक है। एक ही घटना में भिन्न-भिन्न जीवों की भिन्न-भिन्न सुख-दुःख वृत्ति बन जाती है। एक स्त्री को देखकर विरक्त दुःखी होता है, उसे पाप-प्रारब्ध का फल मानता है। कामी सुखी होता है, उसे पुण्य-प्रारब्ध मानता है। अधिकांशतः पापी को दुःख की और पुण्यात्मा को सुख की कल्पना होती है। स्त्री एक प्राकृतिक मांसपिण्ड है। चित्त की सुख-वृत्ति, दुःख-वृत्ति बनने पर भी 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ' यह अनुभव चित्त को आत्मा समझने की भूल के कारण है। इसलिये ज्ञान होने पर भी 'यह सुख है', 'यह दुःख है'—ऐसी वृत्ति तो बन सकती है, परंतु मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ—ऐसी नहीं। जो जीवन्मुक्त महात्मा हैं, जिन की वृत्ति निरन्तर ब्रह्माकार रहती है, उन्हें यह सुख है, यह दुःख है—ऐसी वृत्ति भी नहीं बनती है। रुचि-अरुचि, इच्छा-अनिच्छा-सब सुख-दुःख-भाव के बच्चे हैं। सांप देखकर भागने की, रोटी देखकर खाने की इच्छा, रुचि, सुख-दुःख भावना के अनुसार है।

ज्ञानी-अज्ञानी का सब एक-सा है, परन्तु :—

— ज्ञानी —		— अज्ञानी —
(१) सब स्वरूप या मिथ्या है।	—	सब सत्य है।
(२) मैं कर्ता नहीं हूँ। सब होता-सा दीख रहा है।	—	मैं कर्ता हूँ।
(३) मैं सुख-दुःख का भोक्ता नहीं हूँ।	—	मैं सुखी-दुःखी हूँ।

बस इतना ही फ़र्क है।

आपका—

अखण्डानन्द सरस्वती

(२२)

वृन्दावन
दि. ३-४-४६

यह सृष्टि ज्ञानी को भी ठीक वैसी ही दिखलाई पड़ती है जैसी अज्ञानी को। ज्ञान का स्वभाव समझ में परिवर्तन करने का है, समझी जाने वाली वस्तु में नहीं। हम एक चमकीले पदार्थ को भूल से मणि समझ बैठें तो उस पदार्थ का सच्चा ज्ञान मणि समझने की भूल मिटा देगा, चमक नहीं मिटावेगा। लाल फूल पर रखी हुई स्फटिक मणि को यदि कोई लाल समझने की भूल करे तो ज्ञान होने पर केवल मणि की लालिमा की भूल ही मिटेगी, उसका लाल दीखना न मिटेगा। स्वप्न में भी वैसा ही जगत् दीखता है जैसा जाग्रत् में। स्वप्न में दो तरह की स्थिति होती है:—१. स्वप्न को स्वप्न समझना २. स्वप्न को जाग्रत् समझना। अज्ञानियों की स्थिति दूसरे प्रकार की है अर्थात् वे स्वप्न को जाग्रत् समझते हैं। ज्ञानी स्वप्न को देखते हुए भी उसे स्वप्न ही समझते हैं। ज्ञानियों की दूसरी अवस्था होती है

भूलने पर भी हम दूसरे नहीं हो जाते, वैसे ही अपनी ब्रह्मरूप भूल जाने पर भी हम कोई दूसरे नहीं हो जाते। साक्षात् अपरो अनुभव—ब्रह्मस्वरूप आत्मापर स्मरण–विस्मरणका क्या प्रभाव है? पर देह की स्मृति से जैसे उस को संवार–सजाकर उसके धर्म का पाल होता है उसी प्रकार अपनी ब्रह्मरूपता के स्मरण से जीवन में निर्दोषत असंगता, शान्ति एवं परमानन्द का विस्तार होता है। मैं समझता कि अब तुम्हारे पूछे हुए श्लोकों के अर्थ लिखने की आवश्यकता न है; मिलने पर बता दूंगा।

तुम्हारा—

अखण्डानन्द सरस्वती

(२३)

बिरौली.

श्री रामनवर्म

यह प्रश्न सुन्दर रहा। पहले दृष्टान्त का तात्पर्य समझिये। केवल वस्तु को समझाने के लिये एक सरल रीति। सो भी केवल एक अंश। ठूंठ में भूत का दृष्टान्त जगत् का असत्पना समझाता है। फिर प्रश्न उठता है—भ्रान्ति मिटने पर जगत् क्यों दीखता है? इसका उत्तर है—स्फटिक की लालिमा॥

लाल फूल के कारण सफेद मणि लाल दीखता है। अंतःकरण है लाल फूल। यह दृश्यमान् जगत् है—लालिमा। मणि है—ब्रह्म। जब तक ब्रह्म के साथ अन्तःकरण जुड़ा हुआ है तब तक जगत दीखेगा। अन्तःकरण मिथ्या है, यह भी तो एक अन्तःकरण का ही विचार है। इसलिये विचार की दशा में जगत् दीखेगा। जब अन्तःकरण शान्त हो जायगा तब वह नहीं दीखेगा—जैसे समाधि में। जब उदय होगा तब दीखेगा—जैसे स्वप्न में। जब आत्मा की ब्रह्मरूपता के ज्ञान से अन्तःकरण के सहित समस्त दृश्य के प्रति दृढ़ मिथ्यात्व बुद्धि, प्रतीतिमात्र बुद्धि अथवा स्वरूपबुद्धि (जो कि अन्तःकरण में ही

होती है) हो जाने के कारण अन्तःकरण में पुनर्जन्म ग्रहण करने की योग्यता नहीं रह जायगी–वह मिट जायगा, तब लाल फूल न रहने के कारण लालिमा का भाव भी नहीं होगा। इसलिये लालिमा को साबुन से धोने का प्रयास न कर के उसे स्वपरऐक्यज्ञानके द्वारा बाधित करनेका हीप्रयास करना चाहिये।

यदि मुझसे ब्रह्म ही बात करता तो मैं कह देता की अरे ब्रह्म, तुझ में अन्य की सत्ता, अन्य का रंग या प्रतीति नहीं है। तुझे भ्रम भी नहीं है। जो कुछ टेढ़ा-सीधा, रंग–बिरंगा, दीख रहा है वह तू ही तू है। परन्तु मेरे सामने तो एक जिज्ञासु है जो अन्तःकरण की आंख से ही देखता है। इसलिये दृष्टान्त का सहारा लिया। दृष्टान्त को न पकड़ कर-अपने को पकड़िये–देखिये, बिना देहाभिमान के जगत् की प्रतीति कहां है? अनन्त में सीमित वस्तु कैसे? तुम तो अनन्त हो। रज्जु में सर्प-भ्रम के अनेकों हेतु हैं :–

(१) आंख की मन्दता (२) [illegible]

अनिर्वचनीय है। माया, ईश्वर, प्रेम, जगत्, सब अनिर्वचनीय इसलिये, 'मैं' हैं।

आपका—
अखण्डानन्द सरस्वत

(२४)

वृन्दाव
२५-७-४६

भगवान् का अन्य रूप से ध्यान तो केवल न्याय-दर्शन सम्मत है जिसे उपासकों ने स्वीकार किया है। भक्तियोग के अनुसार भी रूप से भाव (मुस्कराहट, चितवन आदि) का, तथा भाव से भी ध्येय के आनन्द का ध्यान श्रेष्ठ माना गया है। सांख्य के अनुसार दृश्य के दीखते रहने पर भी उस से राग न होना, तादात्म्य या एकत्व न होना-ध्यान है। पुरुष (चेतन—मैं) स्वयं असङ्ग है। योग दर्शन के अनुसार दृश्य का दीखना बंद होना चाहिये। जब वृत्तियों का चारों ओर से निरोध या परावर्तन (लौटना) हो जाता है और वे अपने उद्गम स्थान से बाहर नहीं जातीं—'अहं' में ही रुक जाती हैं, उस समय द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित होता है। इसी की पूर्णता होने पर अस्मिता (अहंभाव) का आलम्बन करके होने वाली सम्प्रज्ञात समाधि होती है। जब तक यह ध्यान की अवस्था है, मैं ध्याता अपने ध्येय का अनुभव (ध्यान) कर रहा हूँ—ऐसा भान होता है, तब तक ध्यान की अवस्था कही जाती है। परन्तु जब 'यह ध्यान की अवस्था है'—ऐसा भान नहीं रहता, अपने ध्येय का ही स्फुरण होता है, अपने जाग्रत्कालीन शरीर और उसके संबंध की स्फूर्ति नहीं रहती तब उसे सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। यह 'स्थूल रूप' के ध्यान से, सूक्ष्म के ध्यान से, और आनन्द मात्र के ध्यान से हो सकती है। यह ध्येय वास्तव में ध्याता से पृथक् नहीं है, ध्याता की ही एक वृत्ति का स्फुरण है, इसलिये

सका गाढ़ ध्यान होने पर ध्येय लुप्त हो जाता है और ध्याता अपने स्वरूप में, द्रष्टा में स्थित हो जाता है। इस स्वरूप स्थिति में शब्द, अर्थ, और ज्ञान का भेद (विकल्प) नहीं रहता है। इसी से 'ज्ञाता' के रूप में 'अहं' की स्फूर्ति नहीं होती और यह अवस्था असम्प्रज्ञात समाधि से ऊपर हो जाती है। इसके भी दो भेद होते हैं-सबीज और निर्बीज। पहली अवस्था में जाग्रत् का बीज रहता है जिस से समाधि टूटती है। दूसरी में नहीं रहता। यह यदि तत्वज्ञान के बाद हो तो वेदान्तियों को कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु यदि जीवों की अनेकता, ईश्वर की अन्यता अथवा जगत् की सत्यता के संस्कार नहीं मिटे हैं तो इस समाधि को भी वे एक जीव की भावनात्मक स्थिति ही मानते हैं। इसमें संसार का बीज विद्यमान है, गुरु के द्वारा, 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के द्वारा ऐक्यज्ञान की आवश्यकता है।

वेदान्तियों ने चित्त, जगत्, जीव, ईश्वर आदि की परिभाषा अलग की है। इसलिये इनकी साधन—परिपाटी भी अलग है। ये चित्त को 'घट' के समान अर्थरूप-वस्तुरूप नहीं मानते हैं। ये चित्त को अर्थ का भावमात्र मानते हैं। इसलिये इनके मत में यह जो जाग्रत् काल में विस्तृत जगत् दिखाई या सुनाई पड़ता है, स्मरण या अनुमान में आता है, सब केवल स्वप्नावस्था के समान चित्त का विलास है। जैसे स्वप्न का जगत् (पृथ्वी, समुद्रादि), सहस्रों जीव, ईश्वर आदि स्वप्न की कल्पना करने वाले चित्त का ही विलास है—

यहां से प्रारंभ होता है कि यह सब मेरे चित्त का स्फुरण है-पृथक् द्रव्य नहीं है ।

(१) समस्त दृश्य पदार्थों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है—मैं असङ्ग, निर्विकार, कूटस्थ एकरस ब्रह्म हूँ—ऐसी निश्चयात्मक स्थिति ।

(२) मेरे सिवाय दृश्य नामक कोई वस्तु ही नहीं । मैं एक अद्वितीय, आधार-आधेय भाव, कार्य-कारण भाव आदि से रहित, माया आदि से शून्य परमतत्त्व हूँ ।

यह भी एक प्रकार से भावनात्मक स्थिति ही है । अर्थात् यह भी एक चित्त की स्फुरणा है । चित्त का निर्विषय-निःसंकल्प हो जाना मात्र ध्यान है । वेदान्तियों के मत में विषयों का (सुषुप्तिकालीन अज्ञान का अनुभव भी विषय ही है) भान ही चित्त है । इसलिये भान मिट जाने पर चित्त नहीं रहता । अब जो चित्त का अधिष्ठान है-जिसमें चित्त स्फुरित हो रहा था, वही रहता है । यही चित्त का अपने अधिष्ठान से किसी भी रूप में पृथक् न स्फुरना 'ब्राह्मी स्थिति' है अथवा सच्चा ध्यान है । यह ध्यान की ब्राह्मी स्थिति है । ज्ञान की दूसरी है। इस सम्बन्ध में अब आप पूछेंगे तब बतलाऊंगा।

(२) शरीर की विभुता के ज्ञान से जो अपरिच्छिन्नता का अनुभव होता है वह उपयोगी एवं सहायक होने पर भी स्थूल है। स्थूलता, सूक्ष्मता, कारणता सब अपरिच्छिन्न ही हैं । सब में एकरस 'मैं' (स्वयं अपने आप) की सत्ता ही वास्तव में अपरिच्छिन्न है ।

(३) सब शरीर इतने ही अपने हैं जितना यह शरीर—इस से 'मैं' की अपरिच्छिन्नता ही दृढ़ होनी चाहिये। अन्तःकरण की अशुद्धता और व्यवहार का सौन्दर्य गौण है । ज्ञान की सफलता सत्य के साक्षात्कार में ही है जिससे अविद्या की निवृत्ति होती है, व्यावहारिक उपयोग में नहीं । शरीर, व्यवहार, साधन, ज्ञान—सब सत्य के दर्शन की सामग्री हैं। ज्ञान का फल व्यवहार में जो आवे, आने दो--इस पर दृष्टि डालना बहुत आवश्यक नहीं है। पूर्व पूर्व भेदज्ञान के संस्कार से व्यवहार होता है।

(४) सर्वत्र निर्विशेष रूप से ब्रह्म है—यह ठीक है। परंतु ऐसा समझने में ब्रह्म कहीं कोई परोक्ष पदार्थ न रह जाय, इसलिये उसे 'मैं' कहना—समझना भी आवश्यक है। सर्व की अनुभूति में 'मैं' का रहना अनिवार्य है। 'मैं' ही निर्विशेष रूप से सर्वत्र है। इसीसे 'ब्रह्म सब है' के साथ ही 'आत्मा सब है,' 'मैं' सब है'—यह वाक्य भी उपनिषदों में हैं।

(५) वास्तव में आत्मा ही परम पवित्र है। जो अपनी सहज पवित्रता में अकृत्रिमरूप से स्थित है, उसका अंतःकरण, इन्द्रियाँ, शरीर भी सहज ही पवित्रतामें स्थित हैं। कर्तृत्व से, प्रयत्न से जो पवित्रता रखी जाती है वह तो अपने अन्तराल में अपवित्रता का भार छिपाए हुए है। तुम पवित्र हो तो तुम्हारा सब पवित्र है। सत्य को मानने की आवश्यकता नहीं होती। वह अपने को मना लेता है। न मानने पर भागता नहीं।

तुम्हारा—

अखण्डानन्द

(२५)

(८) अनुकूलता-प्रतिकूलता के भाव अज्ञानमूलक हैं—यह क्रोध की नींव है।

(९) जो मेरे मन और शरीर के प्रतिकूल क्रिया करता है वह मुझे उनसे ऊपर उठने की प्रेरणा देता है। जहां कोई निशान लगावेगा, उससे मैं ऊपर हूँ।

(१०) क्या यह घटना इतनी महत्त्वपूर्ण है कि मैं अपने चित्त का प्रसाद खो दूँ ?

(११) मुझको कोई कामना नहीं है, फिर किस कामना की पूर्ति में बाधा होने पर क्रोध करूँ ?

तुम्हारा

अखण्डानन्द सरस्वती

(२६)

वृन्दावन

१५-११-४६

वैसे तो भगवान् सर्वत्र हैं और सब हैं। अपने चित्त की दुर्बलता और घबराहट के सिवा और कोई दुःख का कारण नहीं है। चंचलता भी दुःख नहीं है। देखो, बालक का मन कितना चंचल रहता है, परन्तु वह दुःखी तो नहीं होता। हमने कई स्थितियों के बारे में यह कल्पना कर रखी है कि यह दुःख है। यह सब मन का आरोप है। मरने के पूर्व, मरने का भय मानस दुर्बलता के सिवा और क्या है ? ज्ञान मृत्यु को भी अमृत बना देता है, भय को हास्य की सामग्री।

इस क्षण को मस्ती से व्यतीत होने दो। अगले क्षण की कल्पना करके इसे खोओ मत। इस तरह कुछ भी हाथ नहीं लगता। भूत भविष्य की चिन्ता छोड़कर, आगे पीछे के क्षणों को न देखकर, वर्तमान क्षण में ही अपने स्वरूप को देखो।

तुम्हारा—

अखण्डानन्द सरस्वती

(२७)

वृन्दावन

२७-११-४६

शुभाशीर्वाद ! संसार में ऐसी कोई इच्छा, कोई दुःख नहीं है
विना परिच्छिन्न पदार्थ में आत्मबुद्धि किये होता हो ! अपने को
र्ण माने विना किसी देश में, किसी काल में, किसी रूप में न
ानेवाली वस्तु की आवश्यकता ही क्यों उदय होने लगी ? सारी
माएं उसी को बांधती हैं जो 'अहं' की झूठी माया से जकड़ा हुआ
। 'है' और 'नहीं है' का बोध भी तो 'अहं' की भित्ति पर ही
ड़ा है । यह सब भावों, स्थितियों और ज्ञानों की आधारशिला है ।
ो ही खोना है । अब एक प्रश्न यह हो सकता है कि 'अहं' खोया
ां और कैसे जाय ? यदि उन पदार्थों एवं स्थितियों में (चाहे वे
व्य हों अथवा अदिव्य) अपने को खोने की चेष्टा की जाय जिनका
ुभव ही विना 'अहं' के नहीं होता, तो किसी प्रकार भी 'अहं'
ा खोना संभव नहीं है । ऐसी स्थिति में 'अहं' का आधार या मूल
ा ही अनुसन्धान करना पड़ेगा । यह जो प्रत्येक ज्ञान-अज्ञान के मूल

जो हो जाय, होता रहे । जो कहा जाय, कहा जाता रहे । एक
डूबकर देखो तो सही, अपना मूल स्वरूप कैसा है ?

आपका—

अखण्डानन्द सरस्व

मैं अपने को क्या भूला था क्या जाना यह किसे सुनाऊँ ।
भूला अपनी मस्ती में फिर जाना तो क्या खुशी मनाऊँ ॥
भले भूल जाऊँ या जानूँ पर मैं तो ज्यों का त्यों ही हूँ
मृत्यु–अमृत के अनृत सन्धि–कौशल का कारीगर यों ही हूँ

(२८)

वृन्दावन
२६–११–४६

(१) किसी स्त्रीने एक महात्मा को कपटी कहकर पुकारा। वे
खुशी से खिल उठे। लोगों ने पूछा–इतनी खुशी क्यों ? वे बोले–आज
मेरा सच्चा नाम लिया गया ।

(२) एक महात्मा के पास कुछ दुष्ट आये और थोड़े दिन
रहकर चले गये । महात्मा रोने लगे। लोगों ने पूछा—'क्यों ?' वे बोले-
हाय! हाय!! वे ज्यों के त्यों लौट गये। सत्संग से उनका कुछ सुधार
नहीं हुआ ।

(३) कोई महात्मा रास्ते से जा रहे थे। किसीने उनके ऊपर एक
टोकरी राख डाल दी। शिष्य बिगड़े। महात्मा ने कहा—आज मेरे ऊपर
आग बरसनेवाली थी। इन्हें धन्यवाद दो कि इन्होंने उसे राख कर दिया।

(४) परदेश जाते समय पति ने पत्नी से कहा—मैं तुम्हारे लिये
कितने दिनों का प्रबन्ध कर जाऊँ ? स्त्रीने कहा–जितनी मेरी आयु है।
पति बोला–यह तो मुझे नहीं मालूम। स्त्री बोली–जिसे मेरी आयु का
ज्ञान है वही आजीविका का प्रबन्ध करेगा। तुम्हारी चिन्ता व्यर्थ है।
जब पड़ोसी ने पूछा–क्यों जी, तुम्हारे स्वामी तुम्हारे खाने-पीने का

क्या प्रबन्ध कर गये हैं? स्त्री बोली—खाने वाले स्वामी परदेश गये, खिलाने वाले यहाँ हैं।

(५) सेवक ने कहा—स्वामी बाहर आकर देखिये, कैसी बसन्त की बहार है! स्वामी ने कहा—तू ही ज़रा अन्दर आकर देख, कैसी छटा है? इसके सामने बाहर की सब छटाएं फीकी हैं।

(६) किसी ने कहा—स्वामी, आप पाप और पापियों से घृणा करते होंगे? स्वामी—मुझे अपने प्यारे से अवकाश ही कहां है?

(७) एक शिष्य को अशुद्ध पाठ करते देखकर आगन्तुक ने कहा—आप अशुद्ध पाठ से इसको क्यों नहीं बचाते? महात्मा ने कहा—मैं फकीर हूँ, मुझे किसी का दोष देखने का कोई अधिकार नहीं है।

(८) एक साधक अपना मन ढूँढ़ रहा था। आकाशवाणी हुई—तू मुझे छोड़कर मन क्यों ढूँढ़ रहा है?

(९) एक महात्मा ईश्वर से प्रार्थना करते थे—प्रभो। मेरे

होता' अर्थात् चंचलता में दुःख का आरोप नहीं करता। और स
आपका कथन ठीक है। बालक की स्थिति कोई पूर्ण थोड़े ही है

दुःखाकार या सुखाकार चित्तवृत्ति होना तो अन्तःकरण का स्वभा
ही है। परन्तु इसके हेतुरूप से जो बाह्य निमित्तों की कल्पना कर ल
जाती है वह सर्वथा अज्ञान एवं अन्धपरम्पराजनित संस्कार की सम
है। 'मर गया' 'चला गया' आदि घटनायें भाव-भेद से सुख-दुः
दोनों की निमित्तता धारण करती हैं। चित्त की परिणामरूप दुर्बलत
तब तक रहेगी जब तक वह सर्वथा निर्विषय अथवा इष्टाकार नहीं हे
जाता। ज्ञान का इतना प्रभाव अवश्य होता है कि चित्तवृत्ति के
परिणाम का शुद्ध द्रष्टा अपने को अभिमानी अर्थात् मैं सुखी-दुःखी हूँ-
ऐसा कभी नहीं समझता। बाह्य निमित्तों से सुखी होने की कल्पना
केवल विषयी लोगों के चित्त में होती है या अधकच्चरे साधकों को,
जो देहात्म बुद्धि के पक्के सेवक हैं।

'मुझे बाहर का कुछ चाहिये ही नहीं चाहे वह कितना ही बड़ा
क्यों न हो'—ऐसा निश्चय-सम्पन्न व्यक्ति कभी किसी कारण से दुःखी
क्यों होने लगा?

तुम्हारा—

अखण्डानन्द सरस्वती

(३०)

वृन्दावन

१३-१२-४६

एकदिन किसी भक्त सेठ के घर नास्तिक भोजन करने बैठ गया।
मालूम होने पर उसे सेठ ने उठा दिया। रात को स्वप्न में भगवान
ने कहा-'भगत जी! जिसे मैंने ७० वर्ष की आयु तक बिना नागा
भरपेट रोटी खिलायी, उसे आप मेरे कहलाकर एकदिन भी नहीं खिला
सके! धन्य है आप की भक्ति!

सारे देश में दुर्भिक्ष के कारण त्राहि त्राहि मची थी। एक साधारण स्थिति का मनुष्य बड़ी मस्ती से सड़क पर घूम रहा था। उससे एक भक्तने पूछा—'इतनी आपत्ति के समय तुम खुश क्यों हो?'

उस मनुष्य ने कहा—'जिनका मैं नौकर हूँ उनके पास कई साल के खाने भर को अन्न है। मुझे क्या फिक्र?' भक्तजी का हृदय भावसे भर गया—मेरे मालिक के पास तो कभी कोई कमी हो ही नहीं सकती।

ब्रह्मसूत्र के टीकाकार वाचस्पति मिश्र एक इमली के नीचे बैठकर तीस वर्ष तक ग्रंथ लिखते रहे। एक दिन किसी ने आकर कन्या का विवाह करने के लिये करुण स्वर में उनसे धन-याचना की। उन्होंने आंख उठाकर सामने देखा तो उनकी पत्नी ने जो तीस वर्ष से उनकी सेवा में थी, अपना कड़ा निकालकर उनके सामने रख दिया। उन्होंने पूछा—'तुम कौन हो दयावती?' स्त्री बोली—'स्वामी, क्या आप मुझे नहीं पहचानते? मैं आपकी दासी हूँ।' मिश्र जी ने कहा—'तीस वर्ष तक मैंने बाहर की कोई वस्तु नहीं देखी। अच्छा देवि! तुम क्या चाहती हो!' स्त्री बोली—'मै अपना नाम चाहती हूँ। (सन्तान का अभिप्राय)' मिश्रजी ने कहा—'अच्छा तुम्हारे नाम का एक ग्रंथ

लाकर सौ गिन्नियां दीं, जो चोरों को दी गयीं। उनके कृतज्ञता प्रकट करने पर महात्माने कहा–'यह तो तुम्हारे भजन का प्रताप है।' चोर भक्त हो गये।

किसी महात्मा के आश्रम में घड़ी की चोरी करने पर, चोर को पकड़ कर लोग महात्माजी के पास ले आये। महात्माजीने कहा–'हमें घड़ी की ज़रूरत होती तो अपने पास रखते। इसको इतनी ज़रूरत है कि बेचारे को विवश होकर चोरी करनी पड़ी। घड़ी इसे दे दो।' वह चोर आश्रम का सदस्य बन गया।

आपका -
अखण्डानन्द सरस्वती

(३१)

वृन्दावनधाम
दि. १८–१२–४६

(१) 'घट' धातुतः–तत्त्वतः मिट्टी है। व्यवहारतः 'घट' नाम उसकी शक्ल और पानी लाने का काम अपनी विशेषता है। अब देखना है कि हमारी सत्य की परिभाषा क्या है? नाम और रूप तो स्पष्ट कृत्रिम है। वह नाम–रूप तो देश, काल, जाति के भेद से भिन्न हैं। तब क्या काम चलाऊपना अर्थात् पानी लाना ही घट की सत्यता का परिचायक है? यह 'घट' का 'कुछ' पना क्या उतना ही सत्य है जितनी मिट्टी? क्या जितने देश–काल में घट है उतने ही देश–काल में मिट्टी भी है? मिट्टी के जीवन में कितनी ही बार, कितनी ही जगह, कितने ही रूपों में घट बना और बिगड़ा, परन्तु मृत्तिका अबाधित रही। यह अबाधित सत्ता ही हमारा सत्य है। इस परिभाषा पर घट सत्य नहीं उतरता। आकाश की दृष्टि से मिट्टी, मन की दृष्टि से आकाश, तथा ब्रह्म की दृष्टि से मन भी घट जैसा ही है–अर्थात् आपेक्षिक सत्य है। आपेक्षिक सत्य माने मूल सत्य से भिन्न। सत्य से भिन्न अर्थात्–असत्य।

यदि पृथ्वी की आयु ४३ लाख २० हजार वर्ष का हजार गुना मानें और घट की आयु १० वर्ष या १०० वर्ष मानें तो शायद आप गणित से बता सकें कि वह पृथ्वी की क्या कुछ है? ब्रह्मा के उपर्युक्त एक दिन के हिसाब से सौ वर्ष, और फिर अगणित ब्रह्मा। उनके पूर्व भी सत्तारूप से पृथ्वी का अस्तित्व! पृथ्वी यदि अपनी आंख से देखती तो क्या घट उसको कुछ दिखाई पड़ता? सर्व देश-रूप अनन्त में घट अपना कितना स्थान रखता है? सत्ता से भिन्न होकर क्या वह असत् ही नहीं है?

असल में उदाहरण किसी वस्तु के किसी एक अंश को खुलासा समझने के लिये दिया जाता है। वक्ता उससे जितनी बात समझाना चाहता है उतना ही देखिये। ब्रह्म में यदि जगत् को घट के समान बना मानें तो क्या ब्रह्म का कुछ हिस्सा अलग करके उसका जगत् बना है? उस ठोस एकरस अनन्त तत्त्व में जगत् का निर्माण कैसे? दृष्टान्त को पकड़ कर कभी दार्ष्टान्त नहीं भूलना।

(२) भक्त सोच रहा था—भगवान् से क्या प्रार्थना करूँ?

(३२)

वृन्दावन
१३-१-४७

आपने उपाधि हटाने की बात ठीक सोची हैं। ध्यान भी एक
ारीर है। उसका सम्बन्ध आत्मा से कुछ नहीं है। शरीर न रहे तो
यान कैसा? आत्मा तो ध्यान और उसके अभाव में भी एक-सा है।
रीर की ही तरह ध्यान भी एक उपाधि है। इसको हटाकर देखिये
। शरीर के सीधे या टेढ़ेपन का असर नहीं पड़ेगा।

यदि प्राणायाम किये बिना भजन न हो सकता हो तो रात को
जन कम करो या बिल्कुल मत करो। केवल दूध पी लो। फिर तो शौच
े बिना भी प्राणायाम कर सकते हो।

आप ध्यान की स्थितियों का जाग्रत् में विश्लेषण करें तो बहुत
च्छा हो। उस समय क्या-क्या रहता है? ध्येयवृत्ति और ध्याता!
ी अलग है। ध्यान के समय क्या ध्येय बाहर से आकर प्रवेश
ता है या ध्यानवृत्ति का ही कोई रूप है? यदि ध्याता अलग रहता
तो फिर ध्याता बड़ा कि ध्येय? ध्याता और ध्येय दोनों ध्यान के
ास हैं। फिर असलीयत क्या है?

तुम्हारा—
अखण्डानन्द सरस्वती.

(३३)

सत्संग भवन,
दादीसेट अगियारी लेन, बंबई
१४-१-४७.

यज्ञ कार्य अपनी गति से चल रहा है। विघ्न तो हैं ही। यहां
भीड़-भाड़, आचार-विचार, कथा-व्याख्यान, सभी वैराग्यजनक हैं।
ों की पृथक्-पृथक् दौड़-धूप, कोलाहल, अभिमान, दीनता, खुशी
नाराज़ी, सभी इस बात के सबूत हैं कि वासना के पुतले वेतरतीब

थिरक रहे हैं। आश्चर्य तो यह है कि सभी अपने स्वर–ताल के ज्ञान पर नाज़ करते हैं। जिस निर्जीव जनता से हम अपने पीछे चलने की आशा रखते हैं वह हमें कितना पीछे घसीटेगी इसका क्या पता? जिसका कोई वश नहीं अपनी किसी एक नस नाड़ी के संचालन में, वही सबके संचालन की हिमाक़त करता है। समस्त क्रियाओं, भावों, स्थितियों के भीतर जो शक्ति प्रवाह हो रहा है, उस स्रोत का उद्गम देख लेने पर विषमता की भ्रान्ति मिट जाती है। देखने वाले-और देखे जाने वाले का भेद नहीं रहता। इसलिये साधन की दृष्टि से केवल देखना ही सत्य है। देखना आंख की क्रिया नहीं है, ज्ञान है और वह अनुभव की कोई लोकोत्तर स्थिति होगी ऐसी कल्पना करके उसे परोक्ष ज्ञान नाम देने का कोई कारण नहीं है। वह केवल ज्ञान है–इससे अधिक शब्दाडम्बर की कोई आवश्यकता नहीं है।

कौन व्यक्ति ईश्वर है, सुख दुःख क्या है—इस मीमांसा की क़तई जरूरत नहीं है। केवल इतना ही देखना है कि हमारा व्यक्तित्व उस सम्पूर्ण शक्ति स्रोत–उद्गम के साथ कितना एक है? उस अनन्त ज्ञान, इच्छा और कृति में, हमारे अलग जान पड़ने वाले ज्ञान, इच्छा और कर्म कितने ग़र्क़ हैं। केवल वे ही नहीं, स्वयं हम भी आपाद-मस्तक मग्नहो हैं। बस, आगे कुछ कहना नहीं है। चिन्ता और विक्षेप का यही समाधान है।

तुम्हारा—

अखण्डानन्द सरस्वती

(२४)

श्री हरिबाबा का बांध,
पो. गवाँ (बदायूँ)

गार्ड टिकिट ले गया। मैंने कहा—'हिचको मत !' अपने आप अली स्टेशन पर वापिस दे गया। पूछा भी नहीं कि तुम कौन हो।

रात को आठ बजे बबराला उतरे। सवारी का कोई प्रबन्ध न था। मैंने कहा 'हिचको मत !' चल पड़े। एक स्त्री ने अपनी सवा पर हमारा सामान रख लिया। तीन मील चलने पर एक राह चल बैलगाड़ी मिली। उसने कहा—तुम थके हो, बैठ जाओ। एक ब तक बांध पर पहुंच गये।

श्री महाराजजी की कुटी बन्द थी—मैंने कहा हिचको मत, श्री बिना कुंजी के ही ताला खुल गया। उस दिन सुबह से शाम त एक आने वाले टिकिट के—'हिचको मत'—इस आदेश का पालन किया

श्री हरिबाबा—'क' ने बारह वर्ष तपस्या की। कुछ चमत्कार न हुआ तो अविश्वासी होकर चल पड़ा। उसके साथ 'ख' भी हो गया। पहले दिन जिसने बहुत आवभगत की उसकी सोने की थाली 'ख' ने चुरा ली। रास्ते में 'क' के डांटने पर 'ख' ने कहा—मैं अपने कर्म का फल भोगूंगा। दूसरे दिन गांव वालों ने ठहरने नहीं दिया; कहा—चोर हैं चोर। किसी ने ठहरने नहीं दिया। मुश्किल से एक ने खेत पर सोने दिया। वहीं 'ख' ने थाली छोड़ दी। तीसरे दिन एक बड़े भक्त के पालने पर झूलते बालक का गला घोंट दिया। चौथे दिन रास्ता बताने वाले बालक को नदी में डुबो दिया। 'क' ने कहा—तुम राक्षस हो, तुम्हारा मुख देखना पाप है। 'ख' ने कहा—मैं नारायण हूँ, मेरा दर्शन करो। वह नारायण के रूपमें प्रकट हो गया। 'क' ने प्रार्थना की—आप की लीला का क्या रहस्य है ? चुरा कर श्रद्धा की परीक्षा, छोड़ कर श्रद्धा की वृद्धि की गई। बच्चा मेरी भक्ति का बाधक था। रास्ता बताने वाले की मृत्यु से एक राज्य की रक्षा हुई। भगवान की लीला अचिन्त्य है।

आनन्दमयीमां—एक अतिथि सेवाव्रती के घर एक अतिथि गाय का सिर लेकर आया। बोला, रांधकर खिलाओ। वह हिचका तो गर्

पर दिल कड़ा कर रांध दिया। खाने के समय वह अतिथि युगल सरकार हो गया।

महाभारत में—एक सुदर्शन नाम का ब्राह्मण था। उसने अपने मन में यह निश्चय कर लिया कि मुझसे मेरी कोई चीज़ चाहे जो मांगेगा, दे दूंगा। यह बात किसी को बतायी नहीं। पालन करता रहा। एक दिन बाहर जाना हुआ तो अपनी पत्नी से कह गया। स्त्री के पास एक अतिथि आया। खाने पीने के बाद उसने कहा—'किवाड़ बन्द कर दो।' स्त्री ने वैसा ही किया। अतिथि बोला--'मेरी सेवा करो'। स्त्री पांव दबाने लगी। उसी समय सुदर्शन ने किवाड़ के बाहर से आवाज़ दी। स्त्री पशोपेश में पड़ गयी। 'अतिथि सेवा करूं या किवाड़ खोलूँ।' अतिथि-'तुम अपने पति से पूछो।' पति ने बाहर से कहा—तुम अतिथि सेवा कर लो, मैं बाहर बैठा हूँ। किवाड़ खुल गये। वह भगवान् हो गया।

आपका—

प्रत्यक्ष–परोक्ष वस्तु का आकार धारण न करे, वह आकार चाहे दिव्य हो या अदिव्य। आकार के मिथ्यात्व का ज्ञान वृत्ति की इस निर्विषय स्थिति में सर्वोपरि सहायक है। 'लय' या 'निद्रा' भी एक आकार है। 'स्वाद' भी एक आकार है। 'निराकारता' की कल्पना भी एक आकार है ! 'मैं ब्रह्म हूँ—साक्षी हूँ' इत्यादि भी वृत्ति द्वारा प्रकाशित आकार ही हैं। अब इनसे रहित जो वृत्ति है—देश, काल और वस्तु के आकार से शून्य—यद्यपि घट के समान उसने ब्रह्म को प्रकाशित नहीं किया, 'मैं ब्रह्म को जानता हूँ'– ऐसा अभिमान नहीं किया तथापि वह स्वयं विषयशून्य होने के कारण सत्ताशून्य है—ब्रह्म सत्ता से पृथक् नहीं है। अब वह ब्रह्माकार नहीं ब्रह्म ही है।

ब्रह्म अर्थात् मैं निरन्तर हूँ। नैरन्तर्य पैदा करना नहीं है। 'मैं अपने को भूल गया' यह विस्मृति मनोराज्य मात्र है। मनोराज्य से असलीयत में कोई फ़र्क नहीं पड़ता। तुम अखण्ड एकरस हो। यह बात फिर।

आपका अपना–

अखण्डानन्द सरस्वती

(३९)

वृन्दावन

९-६-४७

ब्रह्म अर्थात् देश, काल, वस्तु, कल्पना का अधिष्ठान, अपरिच्छिन्न अनन्त। वह किसी को अपना आकार समर्पित कर नहीं सकता। वृत्ति है सान्त, परिच्छिन्न। इस में ब्रह्म को विषय बनाने की योग्यता नहीं है। इसलिये ब्रह्माकारवृत्ति का अर्थ घटाकारवृत्ति के समान किसी विशेष आकार को प्राप्त वृत्ति नहीं है। वृत्ति का शान्त हो जाना विशेष आकारों को ग्रहण न करना—निराकारता की भी कल्पना न करना—अपने आधार से अभिन्न हो जाना (आधेय से नहीं), क्रम-शान्त हो जाना, जिसमें शान्तिवृत्ति भी न हो (लय नहीं); ब्रह्माकार-

वृत्ति के नाम से कही जाती है। वास्तव में यह वृत्ति नहीं है। क्योंकि अन्तःकरण का कल्पित या सत्य विषय के आकार में परिणाम प्राप्त करना (तब्दील होना) वृत्ति है—विषयाकार त्याग कर, निर्गर्भ होकर सहज स्वरूप में स्थित होना अर्थात् परिणत (तब्दील) न होना ब्रह्माकारता है।

आपने ब्रह्माकारवृत्ति का स्वरूप नहीं पूछा था किन्तु उसके नैरन्तर्य का उपाय पूछा था--सो अब सुनो। वृत्ति दो तरह की होती है—(१) एक तो काल के भीतर बहती रहती है---एक, दो, तीन, चार। घट के बाद पट। इनमें जो क्रम की संवित् है वही काल है। यह सर्वदा के लिये एकाकार नहीं हो सकती। एक व्यक्ति के अन्तःकरण में जो देश, काल और वस्तु भेद के संस्कार से गर्भित है, प्रयत्नपूर्वक यह एकाकारता बनायी जाती है और जैसा प्रयत्न उसके अनुरूप काल तक टिकती है। इसे निदिध्यासन कहते हैं। इसमें प्रयत्न करने पर भी अपने को कर्ता समझा जाता है। इस अवस्था के अनुभव से यह विचार करने का अवसर मिलता है कि वृत्ति की चञ्चलता में ही जगत् का भेद का अनुभव होता है, शान्त दशा में नहीं। यदि जगत् या भेद सत्य होता तो शान्त दशा में उसका और स्पष्ट अनुभव होना चाहिये। आत्मा परम शान्त, अचञ्चल, अनन्त सत्य है। उसमें भेद की स्थिति संभव नहीं है। जो कुछ भेद दीख रहा है वह केवल दीखना मात्र--आकाश में तिरमिरे के समान। शान्त-दशा में जगत् का अनुभव न होने से इस विचार की सम्पुष्टि होती है। यही साक्षात्कार का द्वार है। 'यह है' 'मैं हूँ'—इन दोनों स्फुरणाओं का अन्त होने पर भी जागते रहना—इसका स्वरूप है।

इस बात को दूसरी तरह से यों कह सकते हैं--राग-द्वेष रहित, मतिनिमात्र, वासनाशून्य, शान्त, स्थिर, निर्मल अन्तःकरण में, स्वच्छ और निस्तरंग सरोवर में, अनन्त आकाश के समान ब्रह्म प्रतिबिम्बित होता है। शीशे में अपने प्रतिबिम्ब की तरह, अपनी

प्रतिच्छाया ही दीखती है, यद्यपि यह शुद्ध आत्मा नहीं है तथापि अपने आपको पहचानने के लिये काफी है।

अपनी अनन्तता पहचान लेने के बाद अपनी अनन्त दृष्टि से एक बार देखो। काल के छोटे-छोटे कल्पित अंश जिनमें तुम्हें एक अन्तःकरण, एक जीवन, स्मृति-विस्मृति के उलटफेर, जाग्रत्-सुषुप्ति के ऊपर ही ऊपर घूमने वाले झूठे चक्कर, भिन्न-भिन्न देशाश्रित पदार्थों की कल्पनाएं, उनके हेय-उपादेयपने की भ्रान्तियां, निराधार ही प्रतीत हो रही हैं, तुम्हारे अनन्त स्वरूप में कितना समय, कितना स्थान, क्या अस्तित्व रखती हैं! ओ अनन्त! तुम व्यक्ति नहीं हो, परिच्छिन्न नहीं हो। एक देह और एक अन्तःकरण से, उनकी उलझनों से, जन्म-मृत्यु और स्मृति-विस्मृति से, तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। चल का अचल से, सान्त का मुझ अनन्त से, मिथ्या का सत्य से, कोई सम्बन्ध नहीं है। यही अनन्त की दृष्टि है। इसी को हम दूसरी वृत्ति कहते हैं। इसी दृष्टि से काल, देश, वस्तु का भेद प्रतीतिमात्र है। यह दृष्टि काल के भीतर नहीं है इसलिये विस्मृति में भी रहती है।

बालक को घट का अज्ञान है। देखने पर भी नहीं पहचानता। बड़े को घट का अज्ञान नहीं है—उसने घट को खूब पहचान लिया है परन्तु विस्मृति रहती है। उस विस्मृति से घट की पहचान में--ज्ञानमें कोई अन्तर नहीं आता, अज्ञान की उत्पत्ति भी नहीं होती। यह तो अन्य के ज्ञान की (जो कि संस्कारजनित केवल परम्परा का व्यवहार मात्र है) महिमा है। स्वसत्ता का ज्ञान तो कभी मिट ही नहीं सकता। अपने को शरीर, मनुष्य, समझने की भूल छोड़ देने मात्र से तुम्हारी अखण्डता अक्षुण्ण है। तुम्हीं निरन्तर हो—अखण्डानन्द हो।

आपका—
अखण्डानन्द सरस्वती

(३७)

वृन्दावन

अंधकारमें एक घट रखा है। दीपक से वह दूर हुआ। प्रकाश प्राप्त हो गया। आवरण भंग होने से वृत्ति व्याप्त हो गयी। अपने आप का अज्ञान मिट गया। घट का आवरण भंग होने के बाद दूसरी वृत्ति होती है—'मैं घट को जान गया।' यह बात ब्रह्म के सम्बन्धमें नहीं होती। आवरण भंग का फल जैसा घट का वृत्त्यारूढ़ होना है—वृत्ति में प्रतिफलित होना है—वृत्ति का 'घट' रूप बच्चे को अपने पेट में लेना है—वैसे ब्रह्म नहीं आता। अर्थात् 'मैं ब्रह्म को जान गया' ऐसा फल नहीं होता, फल की व्याप्ति नहीं होती। मैं ब्रह्म हूँ-देश, काल और भिन्न-भिन्न वस्तुओं के आकार में अथवा उनके निषेध के आकारमें परिणत होने वाली वृत्तियों का निष्क्रिय प्रकाशक मात्र हूँ-ऐसा यथार्थ बोध जिस क्षण होता है उसी समय कारण सहित संसार की सम्पूर्ण निवृत्ति हो जाती है। अपनी यानी दृष्टि में अपना व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है—साथ ही साथ उलझनें भी। अपने इस अप्रमेय (जिस को सावित करने के सी सबूत की जरूरत नहीं) और स्वयंप्रकाश (जिसे प्रकाशित लिये किसी वृत्ति की आवश्यकता नहीं) स्वरूप का साक्षात्कार पर व्यक्तिगत जीवन में 'अहं' बोध नहीं रहता है। इसलिये परवाह और चिन्ता नहीं रहती है।

एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है । हम दो तरह की चर्चा करते हैं । एक–तुम स्वयं ब्रह्म हो–असङ्ग हो, अकर्ता हो, अभोक्ता हो । वृत्ति चाहे विषयाकार हो चाहे ब्रह्माकार, उसका तुम पर कोई असर नहीं है । वह स्वयं उड़नछू है, मिथ्या है । यह बात हम तुम्हारे व्यक्तित्व को लेकर–चाहे वह कितना ही सुन्दर, सगुण, सविशेष भगवान् हो, नहीं कहते । यह अपरिच्छिन्न आत्मस्वरूप का बोध कराने के लिये ही है । यदि तुम, भले-बुरे दोनों से असङ्ग नहीं हो, केवल सुख में, संपत्ति में, अनुकूलतामें, पवित्रता में ही असङ्ग हो, विपरीत अवस्थाओं में सङ्गवान् हो जाते हो, तो कहना पड़ेगा कि तुम्हारी असङ्गता बनावटी है । दर असल एक पक्ष से, भले से, सम्पत्ति से, सुख से, तुम्हारा सङ्ग है । वह कमल की असङ्गता कैसी जो गन्दे जल में न रहती हो ? या वह रज्जु की असङ्गता क्या जो केवल अच्छी जाति के सर्प का अध्यारोप करने पर ही रहती हो । दूसरे का अस्तित्व ही नहीं है इसलिये सब कुछ—कर्म, कर्मफल, करण, कर्ता, भोक्ता, भोगफल आदि की प्रतीति होते रहने) पर भी कुछ नहीं है । यह देह–देहाभिमानी जीव, सचमुच यदि स्वर्ग में सुखी है और नरक की यन्त्रणा से उत्पीड़ित हैं तो इस से मुझे क्या ? मुझ अपरिच्छिन्न, अद्वितीय, स्वयंप्रकाश में इनका कुछ अर्थ ही नहीं है ।

दूसरी बात–यह एक व्यक्ति है । इसे प्यास लगी है और पानी पी कर तृप्त हो रहा है । मिर्च खा ली, कष्ट भोग रहा है । यह तो बच्चा है–इसका बचपनही तो है यह । तुम सयाने होकर यह कैसा काम करते हो ? इसे डांट दो । इस अन्तःकरण-व्यक्ति को उत्साहित करो, मिर्च न खाने को उत्साहित करो । कसी भी पीड़ा हो, सहने की आदत डालने को बाध्य करो । तुम्हारा कहा जाने वाला शरीर, मन, मुंह, मूत्रेन्द्रिय तुम्हारी आज्ञा मानने को तैयार नहीं है, तो तुम्हारी पत्नी, भाई तथा और लोगों से तुम अपनी आज्ञा मानने का दावा कैसे कर सकते हो ?

लेना बन्द करो तो देखोगे की कोई वृत्ति नहीं है। तुम उनसे काम लेते हो, यही उनका बना रहना है।

अपना ही—

अखण्डानन्द सरस्वती

(३८)

श्रीवृन्दावन

आषाढ़ शुक्ल ३–२००४

(१) स्वयं भगवान् निर्विकार एवं निःसंकल्प हैं। मनुष्य को अपनी जाति, संस्कृति, धर्म, भाषा, कुल आदि के दृढ़ अभिनिवेश हैं। वह अपने अभिनिवेश को जनता की आंख अपनी ओर खींचने के लिये भगवान् पर थोप देता है। एक ओर कुरानशरीफ भगवद्वाणी है तो दूसरी ओर बाइबिल। यदि हिन्दू धर्म के हिमायती इलहाम की दुहाई दे सकते हैं तो इस्लाम धर्म के हिमायती को भी उसका अधिकार है। भगवान् में संकल्प होने मानने पर उनमें निर्दयता, पक्षपात आदि दोष प्राप्त होते हैं।

जिन मतों में ईश्वर को संकल्पवान् मानते हैं उनमें भी उसे सत्यसंकल्प कहा गया है। उसके संकल्प के विपरीत कोई कार्य हो ही नहीं सकता। यदि ईश्वर का संकल्प कुछ करने का है तो हम शान्त रहें इसी के लिये। ईश्वर का संकल्प नित्य है या अनित्य? यदि नित्य है तो हमेशा वही काम होते रहना चाहिये, यदि अनित्य है तो जीव के संकल्प से उसमें कुछ विशेषता नहीं रही। संकल्प में परिवर्तन ज्ञान के परिवर्तन से होता है। ईश्वर के ज्ञान में परिवर्तन उसे अनीश्वर बना देता है। अपने संकल्प को ईश्वर का संकल्प कहना दृढ़ता का सूचक तो है—यथार्थ नहीं।

(२) सब कुछ चाहना अर्थात् किसी भी परिच्छिन्न और अल्प पदार्थ को न चाहना है। जो बड़ी से बड़ी वस्तु चाहता है उसको छोटी वस्तुओं से स्वभाव से ही वैराग्य होता है। यही वृत्तियों की शान्ति है।

तुम्हारा अनुभव बिल्कुल ठीक है। तुम में जो दूसरी वस्तुओं की कल्पना करने की शक्ति दीखती है, उसे क्या तुम अलग करके दिखा सकते हो? वह दीखती भी तभी है जब कि तुम अपनी अनन्तता का अनुभव नहीं कर रहे होते हो। अनुभव में स्मृति नहीं और स्मृति में अनुभव नहीं। अपना आपा देश, काल, वस्तु से अपरिच्छिन्न है। कार्य की सत्ता स्वीकार किये बिना शक्ति कहां से दीखेगी? तुम्हारे अनन्त स्वरूप में न कार्य है न कारण, फिर शक्ति की क्या कल्पना?

(३) भक्तों से हारने वाले भगवान् अपनी भगवत्ता कितने दिन तक सुरक्षित रख सकते हैं। उन्हीं भक्तों के डर से तो भगवान् को छिप जाना पड़ा।

तुम्हारा—

अखण्डानन्द सरस्वती

(३९)

वृन्दावन
१९-७-५७

की देखा-देखी, परिस्थिति आदि के प्रभाव से भर गये हैं अधिकांश संस्कार सत्यानुसन्धान के अभाव से ही आये हैं। अप मन को जन्म से पूर्व की अवस्था में ले जाने पर उसका रहस्य खुला है। दर असल मन नाम की कोई चीज बाहर या भीतर कहीं न है। परिच्छिन्न शरीर से तादात्म्य होने पर ही यह प्रकट होता है यह भ्रान्ति का बच्चा है। अनन्त में विषय अथवा वासनाओं के लि कोई स्थान नहीं है। तुम अपने को एक बार अनन्त अपरिच्छि स्वीकार कर के देखो, तब मन अपने आप ही विला जायगा शेष भगवत्कृपा।

तुम्हारा—

अखण्डानन्द सरस्वती

(४०)

वृन्दावन

२३-७-५७

पिछले शनिवार को बारह बजे रात तक सिन्धी साईं हासविलास करते रहे। रविवार के प्रातः ५ बजे मैया से बोले—अब तो मैं चला। इतना-इतना रुपया इन-इन कामों में खर्च करना। किसी सत्संगी को भी नहीं बुलाने दिया। श्री महाराजजी का, मेरा तथा राधारानी का नाम उच्चारण करके चुप हो गये। हार्ट फेल हो गया। वैद्य ने आकर इंजेक्शन दिया, कुछ नहीं। छः बजे मैं पहुंचा। वहां हाहाकार मचा हुआ था। सिन्धी लोग अत्यंत दुःखी हैं। मेरा ऐसा विचार है कि किसी को प्रेम करने का मौका देना दुःख की सृष्टि बढ़ाना है।

जिस समय मैं वहां हाहाकार के बीच बैठा हुआ था, मेरे चित्त की दशा बहुत ही शान्त थी। मैं लगती जा रही समाधि को बलात् रोक रहा था। जैसे सृष्टि हो ही नहीं। अब, प्रेमियों से अलग में उनका हित मालूम पड़ता है। अपने हृदय में तो हृदय नाम की वस्तु है ही नहीं।

जिस समय यह जीवन माँ-बाप के नन्हें से धातु बिन्दु के रूप में था उस समय होश, चेतना नाम की वस्तु भी प्रकट नहीं थी। गर्भ में आने पर मनुष्यता के संस्कार—बाहर आने पर माँ बाप की रीति से खाने-पीने-मूतने आदि की स्वयं अभिव्यक्ति हुई। धीरे-धीरे, देखा-देखी, इशारे, आवाज़, भाषा आदि के द्वारा उस शुद्ध होश को कलुषित कर डाला गया। अब हम सुने-देखे इशारों के आधार पर कल्पनाओं के बड़े-बड़े महल खड़े कर चुके हैं। इन्हीं कल्पनाओं के पुंज को मन कहते हैं। जन्म से पूर्व, मृत्यु के अनन्तर मन का क्या स्वरूप है? इस जन्म में हमारे मन में जितनी भाषा, इशारे आदि के द्वारा घुसी बातें हैं उनको निकाल कर मन की जांच पड़ताल करें। अधिकांश कल्पनाओं का कारण इसी जन्म में गंभीरता से ढूँढ़ने पर मिल जायगा। अभी हम मन का शुद्ध स्वरूप जानने के लिये, पूर्व जन्म की कल्पना को जो स्वयं भी हिन्दू होने के कारण हमारे दिमाग में आयी है, छोड़ देते हैं। जन्म के पूर्व कैसा मन था, उसका ध्यान करो, बाद की बढ़ी हुई बातों को छोड़ दो, फिर तुम्हीं बताओ-मन क्या है?

श्वेताश्वतर उपनिषद् में काल, स्वभाव आदि को कारण न बतलाया है। वह तो एक प्रश्न है। दूसरे मन में परमात्मा की शक्ति को कारण बतलाया है-मीमांसापूर्वक। देखिये शांकरभाष्य खण्डन आपका ठीक है।

आपका अपना ही,

अखण्डानन्द सरस्वती

(४१)

वृन्दावन

दि. ९-११-४८

शरणार्थियों की सेवा को परमार्थ न मानना तुम्हारे मन का दोष है या क्रिया का? कोई भी क्रिया 'वस्तु' रूप से परमार्थ ही है या नहीं? वस्तु सत्य में-चित् धातु में द्रष्टा दृश्य का भेद सम्भव है अथवा नहीं? द्रष्टा और दृश्य में कोई सन्धि (विभाजक रेखा) है या नहीं? है तो वह भी दृश्य होने के कारण सन्धि कैसे? नहीं है तो द्रष्टा दृश्य में भेद कैसे? भेद नहीं तो जैसे दृश्य को परमार्थ मानना मान्यता मात्र है वैसे ही द्रष्टा को परमार्थ मानना भी मान्यता मात्र है कि नहीं? यदि दोनों मान्यता हैं तो संसार के सभी कर्म-भक्ति-ज्ञान सम हैं या नहीं? तत्त्व में, साधन में, क्रिया में, द्रव्य में गुण में भाव में, जो भेद है वह मान्यता मात्र ही है—तत्त्वगत नहीं, यह जाने बिना निर्द्वन्द्वता, जीवन्मुक्ति अथवा वर्तमान जीवन के आनन्द में मस्ती आ सकती है या नहीं? न भी आवे तो तत्त्वतः कुछ अन्तर हो गया क्या? क्या जड़-चेतन दो हैं? इन की सन्धि क्या है? सन्धि नहीं है तो संपूर्ण एकत्व ही है न? फिर व्यवहार और परमार्थ अलग-अलग क्यों?

तुम्हारा—

अखण्डानन्द सरस्वती.

(४२)

वृन्दावन (मथुरा)
दि. ५-८-४८

साक्षि-साक्ष्य भाव कल्पित है। 'इदं' के अधिष्ठान रूप से भी तत्त्व का अनुभव नहीं हो सकता। घर का अधिष्ठान जमीन या सर्प का अधिष्ठान रज्जु है। वह तो अन्य है। जो अन्य रूप से ज्ञात होगा वह विनाशी और जड़ होगा। उसकी अन्यता जैसे कल्पित है वैसे ही उस में जड़ता और विनाशित्व भी कल्पित है। इसलिये उस 'इदं' का अधिष्ठान अन्य नहीं, मैं ही हूँ—यह ज्ञान ही जरूरी है। इस के विना भ्रान्ति दूर नहीं हो सकती है।

समझ उलटी है। ऐसा तब हो सकता था जब परिच्छिन्न 'मैं' के सच्ची वस्तु होती। वस्तुतः 'मेरा-मेरा' करके ही मेरा वाला "मैं" बना हुआ है। मेरा वाला ही परिच्छिन्न 'मैं' है। दृश्य अधिष्ठा ज्ञान के बिना ही सत्य तत्त्व भासता है। भक्ति से यह कल्पना होत है कि ईश्वर का है। विवेक से यह कल्पना होती है कि प्रकृति क है ! अविवेक से यह कल्पना होती है कि 'मेरा' है। दृश्य ही कभ 'मैं' और कभी 'मेरा' भासता है। कभी 'तू' कभी 'तेरा' कभ 'यह'—'वह' सब दृश्यका ही विस्तार है। सब प्रत्यय का विषय है। जब तक दृश्य पर किसी का ममत्व—भले ही अपना, अन्य का, ईश्वर का, प्रकृति का ही क्यों न हो, स्थापित करते हैं तब तक 'मैं' की परिच्छिन्नता कट नहीं सकती। इसलिये दृश्य पर से ममता पहले हटनी चाहिए। वेदान्त सिद्धान्त में अभिमानी को जीव कहा गया है। जब विशेष-विशेष दृश्य का अधिष्ठान एक निर्विशेष है—ऐसा ज्ञान होता है, तब निर्विशेष में विशेष कल्पना मात्र है और निर्विशेष वस्तु आत्मा से भिन्न नहीं हो सकती। निर्विशेष, सत्तारूप सर्वाधिष्ठान प्रत्यक् चेतन रूप आत्मा है। ऐसा ज्ञान होते ही सम्पूर्ण दृश्य विवर्त हो जाता है। 'मैं' की परिच्छिन्नता अज्ञान से थी सो अज्ञान ही मिट गया। कुछ अपने पेट में रखते ही, कुछ 'मेरा' मानते ही 'मैं' परिच्छिन्न भासने लगता है। जिसका 'कुछ' मेरा, 'कुछ' तेरा है वही जीव है। जिसका सब है वही ईश्वर है। जिसका न सब है, न कुछ है वह समाधिस्थ द्रष्टा है। जो सब भी, कुछ भी दोनों का अभिमानी भी, द्रष्टा भी, भाव-अभाव, प्रतीति-अप्रतीति—सब कुछ रहते हुए भी सर्व के सत्ता शून्य होने के कारण संस्पर्श शून्य है—वही अपनी आत्मा ब्रह्म है !

तुम्हारा—

अखण्डानन्द सरस्वती.

(४४)

उटकमण्ड
५ जून, ५७

'यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञः' :—

प्रज्ञावान् जिज्ञासु को चाहिये कि अपनी वाक् आदि इन्द्रियों को मन में स्थापित करे। इसका यह अर्थ नहीं है कि जैसे पानी को घड़े में रखते हैं वैसे इन्द्रिय नाम की कोई वस्तु है और उसे किसी आधार में स्थापित करते हैं और फिर वहां से निकाल लेते हैं। किसी भी इन्द्रिय के द्वारा किसी विषय का ज्ञान अथवा क्रिया तभी होती है जब पूर्व संकल्प, अभ्यास अथवा मन का संयोग होता है। 'यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते'। मन के बिना कुछ भी नहीं हो सकता। मन ही उन-उन गोलकों से सम्बन्ध करके भिन्न-भिन्न इन्द्रियों का नाम-रूप ग्रहण करता है। 'यत् प्रज्ञानुमत चेतो धृतिश्च'। ऐसी औषधि का सेवन करने पर जिस से मन शून्य हो जाय, इन्द्रियाँ भी शून्य हो जाती हैं। इस से यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रियों के बिना विषय नहीं, मन के बिना इन्द्रियां नहीं तो इन्द्रिय और विषयों की सत्ता मन से भिन्न नहीं है। यह सब मनोमय ही है। ऐसा ज्ञान ही वाक् आदि इन्द्रियों को मन में स्थापित करना है।

तद्विषयक संकल्प विकल्प बिना ज्ञान का होता है ? क्या अपनी कोई भी स्थिति अज्ञात होती है ? सब की सिद्धि ज्ञान से ही है। इसलिये ज्ञान से भिन्न मन का कोई अस्तित्व नहीं है—इस बात को समझना ही मन को ज्ञान में स्थापित करना है।

'ज्ञानमात्मनि महति'

व्यष्टि ज्ञान को जो प्रत्येक मस्तिष्क में अलग-अलग होता है, एक महान् ज्ञान में स्थापित करना चाहिये। तत्त्वतः ज्ञान पृथक् पृथक् होता ही नहीं। विषयगत भेद ही ज्ञान पर आरोपित कर ज्ञान में भेद माना जाता है। घट-पट अलग-अलग हैं। जैसे एक ही रोशनी में दोनों दीखते हैं, वैसे ही एक ही ज्ञान से दोनों प्रकाशित होते हैं। देश, काल, वस्तु, स्फुरणाएं, विचार स्थितियाँ-कोई भी पदार्थ ज्ञान को भिन्न-भिन्न बनाने में समर्थ नहीं है। वे सब के सब ज्ञान से ही प्रकाशित और सिद्ध हैं। देह, मस्तिष्क, सूक्ष्म-कारण शरीर भी। व्यष्टि-समष्टि का भेद भी! इसलिये एक अद्वितीय ज्ञान से भिन्न अनेक ज्ञान नहीं हैं। व्यष्टिज्ञान के भेद झूठे हैं। स्वतःसिद्ध सर्वावभासक ज्ञान ही सत्य है। उसके सिवा और कुछ भी नहीं है।

'तद् यच्छेच्छान्त आत्मनि'

उस ज्ञान को भी शान्त आत्मा में स्थापित करना चाहिये। प्रश्न यह है कि क्या वह एक ज्ञान ही व्यष्टि बुद्धि, मन, इन्द्रिय और विषयों के रूप में परिणत, परिवर्तित हो रहा है ? क्या उसी के अनेक रूप हैं ? ज्ञान को अनेक, नश्वर मानें तो बौद्धों का विज्ञानवाद, ज्ञान मन एक और परिणामी मानें तो उपासकों का सगुण ईश्वरवाद। उत्तर तो यह है कि वह अद्वितीय ज्ञान वस्तुतः स्फुरणशून्य ही है। स्फुरण की कल्पना इस कारण की जाती है कि विचारक एक शरीर को 'मैं' मान कर अपने से भिन्न प्रतीत होने वाले विषयों की स्थिति

के सम्बन्ध में विचार करता है। उपादान कारण जड़ हो तभी वह परिणामी हो सकता है, साथ ही दृश्य भी। उपादान कारण जब ज्ञान ही है तो उसके परिणामी होने की कोई सम्भावना ही नहीं है। परिणाम में क्रम, रूपान्तर, अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग भेद रहते हैं। वे सब के-सब प्रकाश्य, दृश्य होते हैं। इसलिये ज्ञान परिणाम का प्रकाशक और विवर्त्त अधिष्ठानमात्र है। यही ज्ञान को ज्ञान्तात्मा में स्थापित करना है। यह कोई क्रिया, अभ्यास, उपासना, आवृत्ति, भाव, स्थिति आदि नहीं है-शुद्ध बोध है।